श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

# धर्मोपदेश

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

आचार्य महामण्डलेश्वर

## श्री स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज

के

श्रीमद्भगवद्गीता षष्ठाध्याय आदि पर

प्रवचन

**सनातन धर्म युवा मण्डल**

दिल्ली

निःशुल्क वितरणार्थ

संवत् २०६६

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

# धर्मोपदेश

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
आचार्य महामण्डलेश्वर

## श्री स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज

के

श्रीमद्भगवद्गीता षष्ठाध्याय आदि पर
प्रवचन

सनातन धर्म युवा मण्डल
दिल्ली

निःशुल्क वितरणार्थ

संवत् २०६६

शंकर मठ

ॐ

# प्रकाशकीय

अनन्तश्रीविभूषित आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी नृसिंह गिरिजी महाराज (बड़े महाराजजी) के दिव्य दर्शनों का प्रसाद पाये सभी भक्त स्वयं को कृतार्थ जानते हुए भी हमेशा से चाहते रहे हैं कि उनके उपदेशों का कोई संकलन उपलब्ध हो जिससे उनके अमृतमय वचनों पर पुनः पुनः विचारकर उनके निर्देशानुसार जीवन-यापन सम्भव हो। अनेक वर्ष पूर्व अनन्तश्रीविभूषित आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी महेशानन्दगिरिजी महाराज ने 'वचनामृत' के रूप में बड़े महाराजश्रीजी के उपदेशों का संकलन प्रकाशित किया था, तदतिरिक्त कोई ग्रंथ उनके वचनों के संग्रह रूप में उपलब्ध नहीं था। गत वर्ष श्रीहेमचन्द्र वर्मा के प्रयास से पुराने भक्तों से 'धर्मोपदेश' नामक एक पुस्तक प्राप्त हुई जिसमें 'श्री महावीर पाण्डव' द्वारा संगृहीत गीता षष्ठाध्याय के कतिपय श्लोकों पर श्रीबड़े महाराजजी द्वारा दिये प्रवचनों का सार मुद्रित था। उपलब्ध प्रवचन १८.६.५० से १५.७.५० तक के हैं। प्रारंभ व समाप्ति के प्रवचन उपलब्ध नहीं हुए। वह संग्रह खण्डशः उसी समय का प्रकाशन है जिसमें अनेक भक्तों का योगदान है ऐसा उनमें मुद्रित है। इससे अतिरिक्त, 'अपना कर्त्तव्य' नामक एक पुस्तिका उपलब्ध हुई जिसे ब्रह्मचारी श्रीपरमानन्द जी महाराज ने संकलित रूप में प्रस्तुत किया था और वह भी दिल्ली संन्यास आश्रम बनने से पूर्व का ही प्रकाशन था। किं च एक हस्तलेख रूप में बड़े महाराजजी के उपदेशों का संग्रह किन्हीं माताजी से प्राप्त हुआ। आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी पुण्यानन्दगिरि जी महाराज के आशीर्वाद से ट्रस्ट बड़े महाराजश्रीजी के उक्त तीनों उपदेश-संग्रहों को एकत्र प्रस्तुत कर स्वयं को धन्य समझ रहा है। इन प्रवचनों के अनुशीलन से सभी सद्भक्त कल्याण के भागी बनें यही गुरुचरणों में प्रार्थना है।

## विषयसूची


| | |
|---|---|
| धर्मोपदेश (गीता षष्ठाध्याय-व्याख्या) | १ - १४४ |
| अपना कर्त्तव्य | १४५ - १५५ |
| उपदेश दोहा | १५६ - १५८ |
| सदुपदेश | १५९ - १६३ |
| प्रश्नोत्तरी | १६४ - १७९ |
| गीता महिमा | १८० |
| अष्टादशश्लोकी गीता | १८१ - १८४ |
| आत्मानुसन्धान | १८५ - २११ |
| ब्रह्मविचार | २११ - २१८ |
| श्रीनृसिंहस्तोत्र | २१८ |


श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

परमपूज्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्परमहंस
परिव्राजकाचार्य निरञ्जन पीठाधीश्वर श्री १००८
**श्री स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज**
महामण्डलेश्वर जी का मनोहर

# धर्मोपदेश

**संग्रहकर्ता–**

**महावीर पाण्डव**

ता० १८–६–५०

श्रीमद्भगवद्गीता षष्ठ अध्याय पर परमाराध्य श्री १००८ स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज के उपलब्ध प्रवचन श्लोक ५ से श्लोक २१ तक ही हैं। सम्बन्ध समझने के लिये बाकी श्लोकों का उल्लेख मात्र किया जा रहा है–

**श्रीभगवान् उवाच**

**अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।**
**स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः।।६.१।।**

जो कर्मों के अंगरूप अग्नि की सेवा न करे ऐसा नहीं और अग्नि से असम्बद्ध तप आदि क्रियाएँ भी न करे ऐसा नहीं, किंतु

कर्मों के फल का सहारा लिये बिना कर्त्तव्य कर्म करता रहता है, उसे संन्यासी और योगी समझना चाहिये।।१।।

**यं संन्यासम् इति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।**
**न ह्यसन्न्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।६.२।।**

हे पाण्डव! क्योंकि संकल्प का संन्यास किये बिना कोई योगी नहीं होता इसलिये जिसे संन्यास कहते हैं उसे योग जानो।।२।।

**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणम् उच्यते।**
**योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणम् उच्यते।।६.३।।**

योग पर चढ़ना चाहने वाले मुनि के लिये साधन है कर्म और वह जब योग पर चढ़ चुके तब साधन है सब कर्म छोड़ देना।।३।।

**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।**
**सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।**

इन्द्रिय-विषयों में और कर्मों में आसक्त न होने से सारे संकल्पों का स्वभाव से परित्याग करने पर 'योग पर चढ़ा हुआ' कहलाता है।।४।।

गीता के छठे अध्याय के पाँचवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–



**उद्धरेदात्मनात्मानम् नात्मानमवसादयेत्।**
**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।६.५।।**

इस श्लोक की व्याख्या कल की कथा में की जा चुकी है। भगवान् कहते हैं–'मनुष्य अपना उद्धार आप ही करें। अपने द्वारा अपना नाश न करें। जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

इस श्लोक को गहराई से देखा जाय, तो इसमें चार प्रकार के अर्थ विद्यमान हैं और वे चारों अर्थ मनुष्य के लिए माननीय हैं।

'उद्धरेदात्मनात्मानम्'–इसका पहला अर्थ यह है–आत्मना अर्थात् मन से जीवात्मा अपना उद्धार करे। साधन सम्पन्न मन से उद्धार होता है। पाप कर्म में प्रवृत्त मन जीवात्मा को अधोगति में ले जाता है। इसीलिये कहा गया है–

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

अर्थात्–'बंधन और मुक्ति का कारण मनुष्य का मन ही है।' परमात्मा में लगा हुआ मन मुक्ति का कारण होता है और विषयासक्त मन बंधन का कारण होता है। जिस प्रकार काँटे से काँटा निकाला जाता है उसी प्रकार शुद्ध मन से अशुद्ध मन को शुद्ध करें। शम, दम और श्रद्धा, भक्ति से मन पवित्र होता है। भगवान् ने छठे श्लोक में कहा है–

'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।'

अर्थात्—जिस जीवात्मा ने मन को जीत लिया है उस जीवात्मा का तो मन ही मित्र है। और जिसने मन को नहीं जीता, उसका मन ही शत्रु के सदृश शत्रुता में बर्तता है। संसार में मन को लगाना मन के बस में होना है और भगवद्भक्ति, सत्संग तथा सत्कर्म में मन लगाना मन को जीतना है। उपर्युक्त दोनों श्लोकों का यह पहला अर्थ है।

'उद्धरेदात्मनात्मानम्'—का दूसरा अर्थ है—'आत्मना' अर्थात् परमेश्वर के द्वारा जीवात्मा अपना उद्धार करे। परमात्मा ही जीव का शत्रु तथा मित्र है। छठे श्लोक में यह भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है कि जिस जीवात्मा ने परमात्मा को जीत लिया उसका परमात्मा मित्र है और जिसने परमात्मा को नहीं जीता उसके लिये तो परमात्मा शत्रु हो जाता है। परमात्मा को जीतने का अर्थ है—परमात्मा की दया का पात्र होना। भक्त राजा अम्बरीष को दुर्वासा ऋषि ने अपनी जटा की लट से पैदा की हुई कृत्या राक्षसिनी के द्वारा मारना चाहा था, परन्तु भगवान् ने दुर्वासा पर सुदर्शनचक्र छोड़ा। दुर्वासा भगवान् की शरण में जाकर कहने लगे—'मेरी रक्षा करो।' भगवान् ने कहा—'मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता। तुम भक्त अम्बरीष की शरण में जाओ। 'अहं भक्त-पराधीनः' मैं अपने भक्त के आधीन हूँ।' जो परमात्मा की आज्ञानुसार चलता है उसका वह मित्र है और जो उसकी आज्ञानुसार नहीं चलता, उसका वह शत्रु है। भगवान् गीता में



कहते हैं—

'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।'

अर्थात्—'उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।' आराधित परमात्मा जीवात्मा का मित्र है और अनाराधित परमात्मा जीवात्मा का शत्रु है। भगवान् कृष्ण पाण्डवों के मित्र थे और कौरवों के शत्रु थे—क्यों? इसलिये कि पाण्डव भगवान् के भक्त थे और उनके आज्ञानुसार चलते थे। कौरव धर्मद्वेषी थे और ईश्वरीय आज्ञा के विरुद्ध चलते थे।

'उद्धरेदात्मनात्मानम्'—का तीसरा अर्थ है—आत्मना अर्थात् मानव शरीर के द्वारा जीवात्मा अपना उद्धार करे। मानव शरीर जीवात्मा का मित्र और शत्रु है। वेद में कहा है—मानव शरीर परमात्मा के दर्शन के योग्य है। एक कवि ने कहा है—

'और अनेक ही सृष्टि में नरनर्तनी को जान।
परब्रह्म के रूप की इसमें ही पहिचान।'

परमात्मा का ज्ञान मानव शरीर में ही होता है। और शरीर इस ज्ञान के योग्य नहीं है। गोस्वामी जी ने कहा है—

'बड़े भाग्य मानुष तन पावा।
सुरदुर्लभ सब ग्रंथन गावा।'

यह न समझिये कि आगे भी मानव शरीर मिलेगा, कर्मानुसार चाहे जिस योनि में जीव जा सकता है। इसलिए मानव शरीर पाकर जीवात्मा को अपने उद्धार का प्रयत्न करना चाहिए श्रवण मननादि की योग्यता इसी शरीर में है। कहा है—'साधनधाम मोक्ष कर द्वारा।' यह शरीर मुक्ति का द्वार है।

'लख चौरासी भुगत के मानुष तन पाई।
सपने जैसी चली गई फिर चौरासी आई।'

मानव शरीर से ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है और स्वयं ब्रह्मरूप बन सकता है। और यह भी हो सकता है कि फिर कीट पतंगा ही बन जाये! इसीलिये कहा गया है कि मानव शरीर ही जीवात्मा का मित्र तथा शत्रु है।

'उद्धरेदात्मनात्मानम्'—का चौथा अर्थ यह है—आत्मना अर्थात् अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति से आत्मानम् अर्थात् अहंकार को उद्धरेत् अर्थात् ऊपर की ओर ले जाये। मनुष्य को शरीर में ही अहंबुद्धि होती है। वह शरीर को ही मैं समझता है जो कि शास्त्रीय दृष्टि से गलत है। मनुष्य के अहंकार का जो सम्बन्ध शरीर से है उसको उससे हटाकर ब्रह्म के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। अहंकार का उर्ध्व गमन होना चाहिये अर्थात् अहं मनुष्यः—'मैं मनुष्य हूँ' इस भावना को उन्नत करके 'अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ' यह भावना करनी चाहिये।

ब्रह्म के साथ सम्बन्धित अहंकार जीवात्मा का मित्र है और



शरीर से सम्बन्धित अहंकार जीवात्मा का शत्रु है। शारीरिक तथा सांसारिक आसक्ति से अधःपतन होता है और भगवद्-भक्ति से तथा ब्रह्म-भावना से आध्यात्मिक उत्थान होता है। पुरुषार्थ से जीव शिव बन जाता है, नर का नारायण हो जाता है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि भगवान् के चरण कमल के मकरंद के आस्वादन करने से जिनका मन शुद्ध हो गया है वे ही भवसागर को पार कर जाते हैं। वेदान्त के द्वारा परमात्मा का ज्ञान और ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति होती है। गीता में कहा है—'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' 'अर्जुन, मुझे प्राप्त हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता।' आप कहेंगे कि जब उद्धार हमारे अपने हाथ में है तो फिर आप उपदेश क्यों करते हैं? उपदेश केवल मार्ग बताने के लिये है। उस पर चलना आपके आधीन की बात है।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'

अर्थात्—इसलिये कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। राजकीय कानून को भंग करने से सजा मिलती है और कानून का पालन करने से राजा की कृपा होती है। शरीर रूपी वायुयान में जीवात्मा सवारी के रूप में है। मन वायुयान का चालक है। चालक की सावधानी से वायुयान गंतव्य स्थान पर पहुँच सकता है और असावधानी से बीच में गिरकर चकनाचूर भी हो सकता है। विषय में आसक्त मन असावधान होता है

और परमात्मा में लगा हुआ मन सावधान होता है। मन की असावधानी से अनर्थ होता है।

भागवत में राजा नहुष की कथा है। राजा नहुष बहुत धर्मात्मा और तपस्वी था। उसकी त्रिलोक में ख्याति थी। एक समय दैत्यों के भय से इन्द्र हिमालय में जा छिपा। देवताओं ने राजा नहुष को स्वर्ग का इन्द्र बना दिया। नहुष मानव शरीर से ही इन्द्र बन गया। मन की असावधानी से नहुष की स्वर्ग के भोगों में आसक्ति हो गई। वह इन्द्राणी पर आसक्त हुआ और उससे भोग की याचना की। इन्द्राणी ने कहा--'यदि आप मुझे चाहते हैं तो ऋषियों को पालकी में जोतकर मेरे पास आओ फिर मैं आपका कहा मानूंगी।' इन्द्राणी की युक्ति को नहुष समझ न सका--'कामातुराणां न भयं न लज्जा।' नहुष ऋषियों को पालकी में जोतकर इन्द्राणी के पास जाने लगा। मार्ग में अगस्त्य ऋषि से कहा--'सर्प सर्प।' संस्कृत में सर्प का अर्थ 'जल्दी चल' होता है। अगस्त्य ऋषि ने नहुष का पतन देखकर शाप दिया--'सर्प-सर्प कहता है, तू ही सर्प हो जा।' नहुष सर्प होकर नीचे गिर पड़ा और फिर पश्चात्ताप करने लगा।

'बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगारे आपना, जग में होत हसाय।'

सावधान होकर जीवन बिताना चाहिए।



ता० १९-६-५०

गीता के छठे अध्याय के छठे श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं--

**बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।**
**अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६.६।।**

जिसने अपने को जीता है, वह अपना ही मित्र है और जिसने अपने आपको नहीं जीता, वह आप ही अपने साथ शत्रु की तरह शत्रुता में बर्तना है।

अपने आपको जीतने का अर्थ मन तथा इन्द्रियों सहित संघात को जीतना है। जिसने संघात को जीत लिया, वह अपना मित्र है और जिसने संघात को नहीं जीता अर्थात् जो मन और इन्द्रियों का गुलाम है, वह आप ही अपना शत्रु है। मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु न बने। यदि वह स्वयं ही अपना शत्रु बन बैठता है, तो फिर दूसरा कोई उद्धार नहीं कर सकता। एक तरफ धन है और दूसरी तरफ धर्म है। मनुष्य धर्म नहीं चाहता, धन चाहता है। भगवान् कृष्ण उद्धव से भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में कहते हैं कि मनुष्य धन से अन्धा होकर दूसरे का अनादर करते हैं। प्रभुता से मदोन्मत्त होकर दूसरे का अपमान करते हैं। कुलीनता के अभिमान से वे दूसरे का तिरस्कार करते हैं। विद्या त्याग और रूप से घमण्डी मनुष्य दूसरों की ओर घृणा की दृष्टि से देखते हैं। विद्या से वे अपने माँ-बाप को भी मूर्ख समझने लग जाते हैं।

सदुपयोग से धन कल्याण का हेतु है, पर दुरुपयोग से वह अधोगति में पहुँचाता है। तामसी दान से अभिमान होता है। आजकल दान कालेजों को दिया जाता है जिनमें धार्मिक शिक्षा का लवलेश भी नहीं होता। धर्म-कर्म से गिरे हुए लड़के वहाँ अंग्रेजी की तालीम पाते हैं। ऐसा दान तमोगुणी होता है। बल और कर्मकाण्ड से भी मनुष्य में घमण्ड पैदा हो जाता है। मैं बड़ा शक्ति-सम्पन्न हूँ या धर्म कर्म करने वाला हूँ, यह भाव भी मनुष्य को अधोगति में ले जाता है। घमण्ड से बुद्धि पर अज्ञान का परदा पड़ जाता है। अभिमानी मनुष्य भक्तों का भी अनादर करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—'सारे प्राणियों के अन्दर निरन्तर वह परमात्मा आकाश की तरह स्थित रहता है, जिसका वेद गायन करते हैं।' अज्ञानी मनुष्य परमात्मा का श्रवण तक नहीं करता। सत्संग के लिए वह हजारों बहाने बनाता है। वह सदा अपने सांसारिक मनोरथ में मस्त रहता है। सांसारिक बातों के लिये सदा हाय-हाय करने वाले अधोगति में जाते हैं।

भगवान् उद्धव से कहते हैं—उद्धव, धन का फल धर्म है। धन से धर्म एकत्रित होता है। अर्थात् धन का सदुपयोग करने से धर्म की शक्ति बढ़ती रहती है, धन से धर्म और धर्म से ज्ञान विज्ञान अर्थात् परोक्षज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान होता है। ज्ञान से जीवात्मा मुक्ति को अर्थात् परमशांति को प्राप्त होता है।



धन, प्रारब्ध के अनुसार मिलता है। शक्ति के अनुसार धन से धर्म का संपादन करना चाहिए। भूखे को भोजन देने में बड़ा पुण्य है। खेल-तमाशों में पैसा खर्च करना अधर्म है। धन का फल धर्म है। मनुष्य ऐश आराम में कितना ही खर्च करता है, परन्तु धर्म के नाम पर दान पुण्य करने में आना-कानी करता है। यहाँ हमेशा के लिये कोई नहीं रहेगा। मनुष्य अपनी मृत्यु का विचार नहीं करता। जीवन क्षणभंगुर है। कोई नहीं जानता कि कल क्या होगा। ईंट पत्थर इकट्ठा करने में जीवन बिता देते हैं और एक दिन यहाँ से चले जाते हैं। संसार में आसक्त मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

'अर्व खर्व लौं द्रव्य है,
उदय अस्त लौं राज।
बिना भक्ति भगवंत की,
सभी नरक का साज।।'

अब से धर्म का संपादन करना चाहिए। लक्ष्मी चंचल है। आज है तो कल नहीं। रहट के डब्बे भरते रहते हैं और खाली भी होते रहते हैं।

'धन यौवन यों जायेंगे, जैसे उड़त कपूर।
मन मूरख समझे नहीं क्यों चाटत जग धूर।।'

भगवान् उद्धव से कहते हैं कि वासुदेव से पराङ्मुख मनुष्य

परिश्रम से प्राप्त धन घर परिवार को एक दिन छोड़कर नरकगामी बनते हैं। एक तरफ धन और दूसरी तरफ धर्म। मन धन को चाहता है। वास्तव में बात इससे उलटी होनी चाहिए। भावना यह होनी चाहिए कि धन भले ही चला जाय पर धर्म न जाए। 'प्राण जाए पर वचन न जाई।' यह भारतीय संस्कृति है। हमारी संस्कृति धर्मप्राण है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से हम अपनी संस्कृति को छोड़ते चले जा रहे हैं। गुरु गोबिन्द सिंह के दो बच्चों को मुसलमान बादशाह ने कहा था कि तुम दोनों मुसलमान बन जाओगे तो तुम्हारी अपनी लड़कियों से शादी करा देंगे और राज्य भी दिया जायेगा। और यदि मुसलमान नहीं बनोगे तो तुम्हें जीते जी दीवार में चुन दिया जायेगा। लड़कों ने कहा—'मौत कबूल है। किसी भी हालत में हम अपने धर्म को नहीं छोड़ सकते।' दीवार में छोटे लड़के को पहले चिन दिया गया। बड़े लड़के की आँखों में आँसू आ गये। बादशाह ने पूछा—'क्यों रो रहे हो? मुसलमान बन जाओ तो तुम अब भी बच सकते हो।' लड़के ने कहा—'मैं मौत के भय से नहीं रो रहा हूँ। छोटा भाई मेरी आँखों के सामने दीवार में चिन दिया गया और मैं बड़ा होने पर भी उसकी कोई मदद नहीं कर सका, इसीलिए मेरी आँखों में आँसू आ गये। अब आप मुझे भी शीघ्र ही दीवार में चिन दीजिये। धर्म को छोड़कर ज़िन्दा रहने की अपेक्षा धर्म के नाम पर मर मिटना अच्छा है।' आखिर उसको भी दीवार में चिन दिया गया।



ऐसे धर्मनिष्ठ जीव भगवान् के प्यारे होते हैं। भगवान् धर्मप्रिय हैं। धर्म ही रक्षक है, यहाँ भी और परलोक में भी। 'उद्धरेदात्मनात्मानम्'—धर्मानुष्ठान से अपना उद्धार करें। धन पुत्र स्त्री परिवार, घर शरीर से क्या? यह तो सब कुछ क्षणभंगुर है। यह विचार कर परमात्मा का भजन करना चाहिए।

दिन रात धन के लिये हाय-हाय की जाती है। धन से तो घर वाले भी दुश्मन बन जाते हैं। पिता-पुत्र पति-पत्नी और भाई-भाई में धन के लिये झगड़े होते हैं।

एक सेठ था। उसका इकलौता लड़का कुमार्गगामी हो गया। सेठ बीमार हो गया। उसने सोचा कि धन का लालच देने से पुत्र कुछ सेवा करेगा। पिता ने खजाना दिखा कर पुत्र से कहा—'बेटा! यह सब कुछ तुम्हारा है। जब तक मैं हूँ इसकी चाबी मेरे पास रहेगी मेरे मरने पर सब कुछ तुम्हें ही मिलेगा।' पिता जी जीवित रहेंगे तो मैं धन का उपयोग न कर सकूँगा यह सोच कर पुत्र ने उसी रात को पिता के गले में रस्सी का फंदा डाल कर पिता का गला घोट दिया। धन अनर्थ कर देता है।

एक सेठ के चार लड़के थे। सेठ ने चारों लड़कों को धन बाँट दिया और अपने लिये पाँच लाख रुपया दीवार में छिपा दिया। फिर बीमार हो गया और मौत की घड़ियाँ गिनने लगा। सेठ से किसी ने दान करने के लिये कहा। सेठ की जबान बंद हो गई थी। उसने हाथ से दीवार की ओर इशारा किया। लड़कों से पूछा

गया कि सेठ दीवार की ओर इशारा कर रहा है—क्यों? लड़के तो समझ गये कि दीवार में धन है, परन्तु उन्होंने लोगों से कहा—'पिता जी कह रहे हैं कि धन मकान के बनवाने में खर्च हो गया। दान करने के लिये अब कुछ भी नहीं है।'

धर्म का ख्याल करना चाहिए और सत्संग करना चाहिए। गीता का उपदेश कल्याण का उपदेश है। श्रवण मनन से परोक्ष ज्ञान होता है। लाला महावीर प्रसाद जी प्रतिदिन के धर्मोपदेश छपवा रहे हैं। उससे आपको धर्मोपदेश पर मनन करने में सहायता मिलेगी।

ता० २०—६—५०

गीता के छठे अध्याय के सातवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

**जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।६.७।।**

अर्थात्—सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ अच्छी प्रकार शांत हैं अर्थात् विकार-रहित हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष में परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है अर्थात् उसके ज्ञान में परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं।

परमात्मा सत् है और संसार असत्—यह भावना विवेक कहलाती है। असत् में राग न होना ही वैराग्य है। मोक्ष की तीव्र



इच्छा से गुरु-ईश्वर की कृपा से और श्रवण मनन से निज स्वरूप का बोध होता है। मन को वश में कर समाधि अवस्था को प्राप्त हुए मनुष्य को ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। मन, इन्द्रियों तथा प्राणों को वश में करने से मन प्रशांत तथा निश्चल होता है। जिसका मन प्रशांत होता है, वही शाश्वत शांति को प्राप्त होता है। काम क्रोध लोभ की तरंग-रहित मन से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। विषयासक्त मन चंचल होता है। मलिन मन ही चंचल होता है। समाधि से मन निर्मल होता है। निर्मल तथा संकल्प-रहित मन प्रशांत होता है। परमात्मा का अर्थ परम आत्मा है। पर का अर्थ है निरतिशय परमानंद। आत्मा का अर्थ परब्रह्म है। निरतिशय परमानंद परब्रह्म को प्राप्त होने से शाश्वत आनंद की प्राप्ति होती है। प्राणों के सम्बन्ध से सुख दुःख का भोगी बनकर जीवात्मा अपने को छोटा मानता है। विवेक वैराग्य से समाहित मन को निर्विकल्प बना कर ईश्वर-दर्शन से मनुष्य स्वयं अपना उद्धार कर सकता है। ईश्वर-दर्शन का मतलब संसार सागर से पार होना है। संसारासक्ति का मतलब ही विनाश है।

दिन रात की तरह संसार में मिलने वाले सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान स्वाभाविक हैं—ऐसा विचार कर दुःख शोक से रहित होने का प्रयत्न करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः' शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में मन समान होना चाहिए अर्थात्

विकार-रहित होना चाहिए। यह समानता प्राप्त करना अवश्य ही कठिन है, परन्तु असाध्य नहीं है। विचारपूर्वक मन को समझाते रहने से मनुष्य निर्द्वन्द्व हो सकता है। सांसारिक भोग अर्थात् सुख दुःख प्रारब्ध कर्मानुसार जीवात्मा को प्राप्त होते रहते हैं। जो होनहार है, होकर रहेगी। होनहार को कोई टाल नहीं सकता। प्रारब्ध कर्म का भोगने से ही नाश होता है। वास्तव में आत्मा सांसारिक सुख-दुःख से परे है और वह निरतिशय परमानंद परमात्मा का अंश होने से स्वयं आनंद-स्वरूप है। ये सारी बातें मन को समझा कर सुख-दुःख में समान रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

शीत और उष्ण में भी समान रहना चाहिये। अभ्यास से मनुष्य शरीर को वश में कर सकता है। तीसरी सीढ़ी मान तथा अपमान में चित्त को समान रखना है। मान क्या है? स्तुति और पूजा। अपमान क्या है? निन्दा और तिरस्कार। सन्मान से हर्ष होता है और मनुष्य अपने को बड़ा समझने लगता है। यह विकार आध्यात्मिक उन्नति में बड़ी बाधा उपस्थित करता है। अपमान से मनुष्य को अमर्ष अर्थात् क्रोध हो आता है। हर्ष और अमर्ष—दोनों विकार हैं। विचार से मनुष्य मान और अपमान दोनों अवस्थाओं में चित्त को समान रख सकता है। मान या अपमान होना प्रारब्ध कर्म का फल है। हर्ष और अमर्ष अविचार का फल है। गुरु वसिष्ठ ने भरत से कहा—



'सुनहु भरत भावि प्रबल
बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरण
यश अपयश विधि हाथ।।'

आज मान होता है तो कल अपमान होता है। जीवन के सभी दिन बराबर नहीं होते। विचार से हर्ष और अमर्ष को नष्ट किया जा सकता है। मान और अपमान शरीर का होता है, आत्मा का नहीं। हम शरीर नहीं हैं, आत्मा हैं। मुसाफिर एक धर्मशाला छोड़कर दूसरी धर्मशाला में जाता है। आत्मा का भी ऐसा ही है। वह एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर को प्राप्त होता रहता है। और वह सिलसिला तब तक चलता है, जब तक कि वह कर्म बन्धन से मुक्त नहीं होता। धर्मशाला के बिगड़ने या सुधरने पर मुसाफिर को सुख दुःख नहीं होता। शरीर के सुख-दुःख से, मान अपमान से आत्मा में कोई विकार नहीं होता। शरीर और आत्मा दो हैं।

'आत्मानं यदि निन्दन्ति, निन्दन्ति स्वयमेव हि।
शरीरं यदि निन्दन्ति, सहायास्ते मता मम।।'

यदि कोई मेरी आत्मा की निन्दा करते हैं, तो वे अपनी ही निंदा करते हैं। यदि मेरे शरीर की ये निन्दा करते हैं, तो बात ठीक ही तो है। शरीर की निन्दा शास्त्र भी करते हैं। शास्त्रीय बात कहने

वाले मेरे सहायक हैं, उपकार-कर्त्ता हैं। अपमान से मनुष्य आग बबूला हो जाता है। चेहरा लाल होता है, होठ फड़कने लगते हैं। क्रोध विचार-शक्ति को नष्ट कर देता है। विचार शक्ति से कटु वचन सुनने पर भी क्रोध नहीं आयेगा। मेरी निन्दा करके यदि निन्दक प्रसन्न होता है तो यह मेरा निन्दक पर उपकार ही हो जाता है। दूसरे को प्रसन्न करने के लिये पार्टी दी जाती है, धन दिया जाता है, इनाम दिया जाता है, दक्षिणा दी जाती है और सेवा की जाती है।

'सततसुलभदैन्ये निस्सुखे जीवलोके
यदि मम वरिवादात् प्रीतिमाप्नोति कश्चित्।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरो वा
जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः।।'

सतत दैन्य का अनुभव करने वाले मेरी निन्दा करके प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं, तो अच्छी बात है। निन्दा सुनकर नाराज या उत्तेजित नहीं होना चाहिए। लोग कहते हैं कि 'आखिर वह मेरी निन्दा क्यों करता है?' किन्तु ऐसा विचार नहीं करना चाहिए। सोचना यह चाहिए कि पहले जन्म में पुरुषार्थ नहीं किया, इसीलिए मुझे जन्म-मरण के चक्र में आना पड़ा। मेरा अपना ही दोष है। फिर कोई बुरा कहता है तो बुरा क्यों माना जाय? मन को समझाने के विभिन्न उपाय हैं। सर्दी गर्मी, सुख दुःख और मान अपमान में समान चित्त रहने से मनुष्य परमात्मा के दर्शन



के योग्य बनता है। निर्द्वन्द्व मन ही स्थिर तथा शांत हो सकता है और स्थिर मन से ही भक्ति हो सकती है। सुख में हर्ष प्रकट करेंगे तो दुःख में रोना भी पड़ेगा। ये दोनों विकार हैं और अविचार के प्रमाण स्वरूप हैं। विचार से काम लेने से ही सुख तथा शांत प्राप्त होगी।

२१–६–५०

गीता के छठे अध्याय के सातवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—सर्दी, गर्मी, सुख दुःख और मान अपमान में जिसकी वृत्तियाँ शांत हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरुष में परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है। प्रशांत तथा निश्चल मन से परमात्मा का ज्ञान होता है। सुख दुःखादि द्वन्द्वों से रहित मनुष्य का मन निश्चल होता है। आठवें श्लोक में कहा है—

**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।**
**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।६.८।।**

ज्ञान विज्ञान से तृप्त योगी भगवान् की प्राप्ति वाला योगारूढ है ऐसे कहा जाता है। योगारूढ ज्ञान में स्थित होता है। ज्ञान परोक्ष ज्ञान को कहते हैं और विज्ञान अपरोक्ष ज्ञान को। ज्योतिष के द्वारा हमें सूर्यग्रहण कब होगा—यह पहले ही मालूम हो जाता है। यह सूर्यग्रहण का परोक्ष ज्ञान है। परन्तु जब हम अपनी आँखों से सूर्यग्रहण देखते हैं, तो वह सूर्यग्रहण का अपरोक्ष ज्ञान

कहलाता है। वेद में लिखा है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।'

अर्थात्—जिनसे सम्पूर्ण प्राणी जन्म लेते, जन्म लेकर जिनसे जीवन धारण करते हैं तथा प्रलय के समय जिनमें पूर्णतः प्रवेश करते हैं, वह ब्रह्म है, उनको जानने की इच्छा करो। गीता में भगवान् ने कहा है—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। अर्थात्—मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ। मेरे से ही सब जगत् चेष्टा करता है। इस प्रकार श्रुति-स्मृति से परमात्मा का जो ज्ञान हमें होता है, वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है। मकान देखकर अनुमान होता है कि इसके बनाने वाले राज मजदूर हैं। उसी प्रकार संसार का कोई कर्त्ता है, और वह परमात्मा है, यह परोक्ष ज्ञान है। लड्डू मीठा होता है, यह परोक्ष ज्ञान है, पर लड्डू खाने से जो मिठास का अनुभव होता है, वह अपरोक्ष ज्ञान है। आत्मत्वेन अपरोक्ष ज्ञान होता है। परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान कैसे हो? अपरोक्ष ज्ञान से ही कल्याण होता है। वेद के 'अयमात्मा ब्रह्म'—यह आत्मा ब्रह्म है, 'विज्ञानं' प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्त्वमसि'—वह ब्रह्म तू है—इन महावाक्यों से पता चलता है कि शरीर के अन्दर जो चेतन है, वह परब्रह्म है। यह ज्ञान होता है। आत्मा और पर आत्मा दोनों एक हैं, यह अनुभव ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान होता है। संसारासक्त जीव अपने को परमात्मा



से अलग समझता है। निष्काम कर्म तथा भगवद्-भक्ति से निर्मल, प्रशांत तथा निश्चल मन में परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है। शुद्ध मन में विज्ञान होता है। आत्मा ब्रह्मरूप है, उसको जानना चाहिये। रात को सो जाने पर स्वप्न में राजा देखता है कि वह रंक बन गया। वह स्वप्न में अपने को राजा से अलग समझता है और दुःखी होता है। नींद टूटने पर राजा को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। जीवात्मा जब तक अज्ञान की निद्रा में सोया रहेगा, वह अपने को परमात्मा से अलग ही समझेगा और दीन दुःखी बना रहेगा। अज्ञान की निद्रा से जागृत हो जाने पर आत्मा ही ब्रह्म है, यह अपरोक्ष ज्ञान होगा और शाश्वत आनन्द प्राप्त होगा। वेद में कहा है—जो परब्रह्म सर्वात्मा सबका अधिष्ठान है तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म है, वही तुम हो और तुम ही वह हो।

शरीर में चेतन है और बाहर भी चेतन है। शरीर का चेतन आत्मा है और बाहर का चेतन परमात्मा है। दोनों एक है। घट में घटाकाश और बाहर का महाकाश दोनों एक हैं। घट को फोड़ दिया जाय तो घटाकाश और महाकाश दोनों एक होते हैं। उपाधि से घटाकाश होता है। अग्नि सर्वव्यापक है पर दीपक से सम्बन्ध हो जाने पर दीपक नाम पड़ता है। तत्त्व एक ही है। दीपक बुझने पर अग्नि तत्त्व में ही विलीन होता है। इसी प्रकार बुद्धि से सम्बन्ध हो जाने से परमात्मा जीवात्मा हो गया है। शरीर

से सम्बन्धित चेतन का नाम जीव है और बाहर का चेतन परमात्मा। इस शरीर का नाश होने पर आत्मा परमात्मा में मिल जायेगा, यह समझना गलत है। शरीर तीन प्रकार के हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, और कारण शरीर। मरने से स्थूल शरीर का नाश होता है। परलोक में सूक्ष्म शरीर बना रहता है। महाप्रलय में सूक्ष्म शरीर का भी नाश होता है, परन्तु कारण शरीर बना रहता है। कारण शरीर को अविद्या कहते हैं। अविद्या का अर्थात् कारण शरीर का नाश हो जाने पर आत्मा परमात्मा में लीन होती है। अविद्या की निवृत्ति से आत्मा परमात्मा की एकता का अपरोक्ष ज्ञान होता है। अर्जुन का मोह और शोक दूर करने के लिए भगवान् ने आत्मज्ञान का उपदेश दिया है।

'तत्र को मोहः कश्शोकः एकत्वमनुपश्यतः'

आत्मा और परमात्मा की एकता अनुभव करने वाले का मोह और शोक दूर हो जाता है। अर्जुन ने शंका की—"आत्मा और परमात्मा दोनों एक हैं, तो मैं अपने को परमात्मा से अलग क्यों मानता हूँ?" भगवान् ने कहा—"तू शरीर नहीं है, शरीर से भिन्न है। शरीर को जानने वाला तू शरीर से अलग है।"

अर्जुन—क्या मैं प्राण हूँ?

भगवान्—प्राणों को जानने वाला तू प्राणों से अलग है। तुझे अपनी प्राण स्वरूप साँसों का ज्ञान होता है।

अर्जुन—तो क्या मैं मन हूँ?



भगवान्—नहीं, मन का जानने वाला भी तू है। जब मन ठिकाने नहीं होता तो तुझे उसका ज्ञान होता है। बुद्धि को भी तू जानता है। मन्द और तीव्र बुद्धि का भेद तुझे मालूम होता है। तू बुद्धि से भी अलग है।

अर्जुन—तो फिर मैं क्या हूँ?

भगवान्—तुम अपने को जड मानते हो या चेतन?

अर्जुन—मैं अपने को चेतन मानता हूँ।

भगवान्—चेतन ही तू है। चेतन ही सब जानता है। चेतन स्वयं प्रकाशित तथा प्रकाशक है।

अर्जुन—जब चेतन स्वयं प्रकाशित है तो उसको मन की आवश्यकता क्यों?

भगवान्—वेद में मन से परमात्मा का ज्ञान बताया है। मन और बुद्धि द्वार हैं अर्थात् साधन हैं। जानने वाला चेतन ही है।

आँख से सब कुछ दिखाई देता है। पर आँख से आँख नहीं दिखाई देती। आँख के सामने शीशा रखने पर आँख दिखाई देती है पर देखने वाली आँख ही है, शीशा नहीं। आँख अपने को शीशे के द्वारा देखती है। शीशा द्वार है, साधन है। मन और बुद्धि शीशे की तरह द्वार हैं। जानने वाला परब्रह्म सबके पास है।

'जा कारण जग ढूंढिया सो तौ घटहिं मांहि।
परदा दीया भरम का ताते सूझे नांहि।।'

जिज्ञासु को परमात्मा मन से दिखाई देगा। वेद में कहा है—'मनसैवानुद्रष्टव्यं'—परब्रह्म मन से ही देखने योग्य है।

अर्जुन ने शंका की—मन तो पास ही है। फिर दर्शन क्यों नहीं होते?

भगवान्—मन परमात्मा के सन्मुख होने पर दिखाई देगा। मन संसार के सन्मुख है, उससे दर्शन नहीं होंगे। बहिर्मुख मन से दर्शन नहीं हो सकते। मन शीशा है। शीशा मैला होने पर उसमें स्वरूप दिखाई नहीं देता। निष्काम कर्म से मन साफ होता है। शीशा सामने हो, साफ हो, पर हिलता हो तो स्वरूप नहीं दिखाई देगा। भक्ति से मन निश्चल होता है। नेत्र और शीशे में कोई आवरण हो तो फिर भी दिखाई नहीं देगा। नेत्र परमात्मा है, शीशा मन है। केनोपनिषद् में कहा है—जो मनोवृत्ति को जानता है, उसी को ब्रह्म जानना चाहिए। जीवात्मा अज्ञान से शरीर को मैं समझता है। ज्ञान से अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति से उसको अपने ब्रह्मस्वरूप का बोध होता है। खुदा और जुदा में केवल एक नुकते का फर्क है।

'रब्बदा क्या पावना।
इधरों पुट कै उधरों लाबना।।'

अपरोक्ष आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।



ता० २२–६–५०

गीता के छठे अध्याय के आठवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।६.८।।

ज्ञान-विज्ञान से तृप्त मनुष्य योगारूढ कहलाता है। ज्ञान परोक्ष ज्ञान को कहते हैं और विज्ञान अपरोक्ष ज्ञान को। आत्मा ब्रह्म है—यह ज्ञान कैसे होगा, यह बताया जा चुका है। आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान से मोक्ष मिलता है। अर्जुन ने शंका की—'जगत् भी ब्रह्मरूप है, यह कैसे जाना जाये?' भगवान् ने कहा—'जगत् भी ब्रह्मरूप ही है। नाम-रूपात्मक जगत् का आभास हो रहा है। यहाँ विषमता ही नज़र आती है, पर यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही है। विचार काल में यह जगत् नहीं होता। श्रुति कहती है—'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'—यह सब ब्रह्म ही है। 'आत्मैवेदं सर्वम्'—आत्मा ही यह सब है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—प्रतीयमान जगत् ब्रह्मरूप है। स्मृति में भी यही बात पाई जाती है। गीता में कहा है—'वासुदेवः सर्वम्'—सब कुछ वासुदेव ही है।

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।'

'अर्जुन, मेरे सिवाय किंचित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है।

यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश मेरे में गुंथा हुआ है।' विष्णु पुराण में जड भरत ने राजा रघु से कहा है—एक परमेश्वर ही है। विचार काल में जगत् का भान नहीं होता। सुषुप्ति में जगत् का भान नहीं होता। उसी प्रकार समाधि अवस्था में भी चित्त की वृत्ति निर्विकल्प ब्रह्म में समाहित हो जाने से संसार का भान नहीं होता। जगत् ब्रह्मरूप है। यह बात श्रुति-स्मृति से प्रमाणित हो गई। युक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है। वेद में कहा है:—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।।'

अर्थात् जिसमें ये सम्पूर्ण प्राणी जन्म लेते, जन्म लेकर जिससे जीवन धारण करते हैं तथा प्रलय के समय जिसमें पूर्णतया प्रवेश कर जाते हैं, वह ब्रह्म है। उसको जानने की इच्छा करो।

ब्रह्मसूत्र में—'जन्माद्यस्य यतः।' इस सूत्र में कहा गया है कि सृष्टि, स्थिति, लय, मोक्ष जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। ब्रह्म ही जगदाधार है। परमात्मा जगत् का कारण है और जगत् कार्य है। कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है। घड़े का निमित्त कारण कुम्हार है और उपादान कारण मिट्टी है। परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है और उपादान कारण भी है। बनाने वाला परमात्मा है और बनने वाला भी परमात्मा ही है। परमात्मा बनाता है और बनता भी है। मिट्टी का कार्य घड़ा मिट्टी रूप है। कार्य में



उपादान कारण विद्यमान होता है। परमात्मा से बनाया हुआ और परमात्मा से ही बना हुआ संसार परमात्मा का ही स्वरूप है। सुवर्ण से कई तरह के कड़ा, कुंडल, कंगन आदि जेवर बनते हैं और वे जेवर नाम और रूप में भिन्न होते हुए भी सब सुवर्णरूप ही होते हैं। कड़ा, कुंडल और कंगन ये नाम और उनका रूप मनुष्य की कल्पनामात्र है।

एक वैरागी के पास एक गणेश और एक चूहे की सुवर्ण की दो मूर्तियाँ थीं। चूहे की मूर्ति बड़ी थी और गणेश की छोटी। वह उन मूर्तियों को बेचने के लिए सुनार के पास गया। सुनार ने कहा—'गणेश की मूर्ति के पचास और चूहे की मूर्ति के सौ रुपये दूँगा।' वैरागी ने कहा—'गणेशजी बड़े देवता हैं। चूहे से उनका मूल्य कम न लगाइये।' सुनार ने कहा—'मेरी दृष्टि में तो सुवर्ण ही है। सुवर्ण के हिसाब से ही पैसे दूंगा।' ज्ञानी की दृष्टि में जगत् ब्रह्ममय ही है। हलवाई खांड के खिलौने बनाता है। नाम और आकार अलग-अलग होते हैं, पर हलवाई की दृष्टि में सब खिलौने खण्ड ही हैं और वह खण्ड के हिसाब से ही मूल्य वसूल करता है। इसी तरह जगत् का उपादान कारण ब्रह्म होने से ज्ञानी की दृष्टि में जगत् ब्रह्ममय ही है। जल में तरंग फेन बुद्बुदे ये सब होते हैं, परन्तु नाम रूप अलग-अलग होते हुये भी वे सब जल ही तो हैं। ब्रह्म में जगत् का आभास हो रहा है। आप कहेंगे संसार तो लम्बा चौड़ा और ठोस मालूम होता है। उसको आभास

कैसे कहा जाय? स्वप्न में संसार दिखाई देता है, परन्तु जागने पर वह नष्ट हो जाता है। मनुष्य अज्ञान की निद्रा में सोया है, तब तक मायिक प्रपंच का स्वप्न की तरह आभास होता है। ज्ञान हो जाने पर यह आभास नष्ट हो जाता है। मायिक प्रपंच नश्वर होने से असत् है। परन्तु असत् उसको कहते हैं जो दिखाई न दे। जगत् का निरूपण नहीं हो सकता। वह अनिर्वचनीय है। अद्भुत माया है। स्वप्न में देश, काल, वस्तु कुछ भी नहीं है। परन्तु सब प्रतीत होता है। जाग्रत के पदार्थ भी प्रतीत हो रहे हैं। सिनेमा में एक सफेद चादर लगी होती है। उसमें हम जंगल, शहर, आग, नदी, युद्ध आदि सब देखते हैं, पर होता कुछ भी नहीं। कल्पित पदार्थ से मूल कारण में कोई विकार नहीं आता। आग लगे या पानी बरसे, वह सफेद चादर ज्यों-की-त्यों रहती है। उसमें कोई विकार नहीं होता। चादर के दृश्य फिल्म में होने से दीखते हैं। फिल्म में तो दृश्य हैं। जीव की बुद्धि में वासनारूप से स्थित संसार का दृश्य परमेश्वर में दिखाई देता है। फिल्म के दृश्य रोशनी से दिखाई देते हैं। चादर परमात्मा है, फिल्म जीव की बुद्धि है और रोशनी माया है। बुद्धि के संसार को माया परमेश्वर में दिखाती है।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।'

केवल एक तथा अद्वितीय ब्रह्म है। कुछ भी अनेक नहीं है। ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में संसार नहीं है।



संसार परमात्मा में कल्पित रूप में है, सत्यत्वेन नहीं। परमात्मा के सिवा कुछ भी सत् नहीं है। माया के नाश से ब्रह्म का ज्ञान होता है। ब्रह्माकार वृत्ति से अज्ञान की निवृत्ति कर वह स्वयं निवृत्त हो जाती है। गंदा जल निर्मली से साफ होता है। वह मिट्टी को नीचे बैठा देती है और आप भी नीचे बैठ जाती है।

जल और बर्फ दोनों एक हैं। जल ठंडी हवा से बर्फ बनता है और सूर्य की धूप से बर्फ जल बन जाती है। उसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म माया के सम्बन्ध से जगद्रूप जगदाधार बनता है। ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से जगत् रूपी बर्फ ब्रह्मरूप जल बन जायेगी। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्म की जिज्ञासा होनी चाहिये। जगत् परमेश्वररूप है और परमेश्वर जगद्रूप है। राम ने वशिष्ठ से पूछा—"परमेश्वर में विशेषता क्या?" वशिष्ठ ने कहा—"परमात्मा सत् है। जगत् का नाश होने पर भी वह रहता है। जगत् के बिना परमात्मा होता है पर परमात्मा के बिना जगत नहीं होता।"

परमात्मा के दर्शन के लिए विवेक की आँखें चाहिए। शास्त्र में कहा है—'विचारान्मोक्षो भवति' अर्थात्—विचार से मुक्ति होगी। जीवन पर बार-बार विचार करना चाहिये और विचार के अनुसार ही चलना चाहिये। संसार में आसक्ति होते हुये सुख शांति की आशा करना दुराशामात्र ही है। धधकती हुई भट्टी के पास बैठ कर ठंडी हवा की आशा करना अविचार नहीं तो क्या? जो बात जैसी है उसको वैसा ही समझना चाहिए। यथावत्

विचार के अनुसार आचरण करने से मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है।

**ता० २३–६–५०**

गीता के छठे अध्याय के आठवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।**
**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।६.८।।**

अपने को तथा जगत् को ब्रह्मरूप से देखने वाला ज्ञान विज्ञान से तृप्त होता है। वेदान्त के अनुसार जीव और जगत् कोई वस्तु नहीं है। वेद के अनुसार एक तथा अद्वितीय परमात्मा ही सत् है, और सिवाय उसके और कुछ भी नहीं है। कूटस्थ का अर्थ विकार-शून्य है। विकार के साधन पास होने पर भी योगारूढ पुरुष निर्विकार बना रहता है, क्योंकि वह स्वभाव से जितेन्द्रिय होता है। योगी अर्थात् ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त पुरुष के लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान होता है। मिट्टी पत्थर से न तो द्वेष होता है और न सुवर्ण में राग होता है। ऐसा पुरुष युक्त अर्थात् योगारूढ कहा जाता है। योगारूढ का अर्थ भूमिकारूढ है। इस अवस्था में सांसारिक पदार्थों का त्याग होता है। १०५ डिग्री बुखार हो तो खान पान की वस्तुओं का स्वाभाविक त्याग होता है। पर यह विवशता का त्याग होता है। इसका कोई मूल्य नहीं।



'गुणेषु वैतृष्ण्यं परवैराग्यम्।' भूमिकारूढ पुरुष परवैराग्य को प्राप्त होता है। अपर वैराग्य से ज्ञान होता है और पर वैराग्य से ज्ञान का फल प्राप्त होता है। भूमिकारूढ को ब्रह्मानन्द का अनुभव होने से वह परवैराग्य को प्राप्त होता है। जिस प्रकार शरीर की बचपन, जवानी और बुढ़ापा ये तीन अवस्था होती हैं, उसी प्रकार मन की अर्थात् ज्ञानयोग की सात अवस्थाएँ अर्थात् भूमिकाएँ होती हैं।

(१) **शुभेच्छा**–यह पहली अवस्था है। शुभेच्छा का अर्थ मोक्ष की उत्कट इच्छा है। जल में डूबने वाला जैसे जल से बाहर निकलने की उत्कट इच्छा करता है, वैसे ही मोक्ष की उत्कट इच्छा को शुभेच्छा कहते हैं। जन्मजन्मान्तर के पुण्य से तथा उसके फलस्वरूप ईश्वरीय दया से यह शुभेच्छा मनुष्य में उत्पन्न होती है।

(२) **सुविचारणा**–यह दूसरी अवस्था है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर वेदान्त का श्रवण तथा मनन करना। गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। मनन के बिना ज्ञान की गहराईयों को तथा मुक्ति मार्ग की कठिनाईयों को मनुष्य भलीभाँति समझ नहीं पाता।

(३) **तनुमानसा**–यह तीसरी अवस्था है। इसका अर्थ मन को सूक्ष्म करना है। श्रवण तथा मनन के बाद निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। बार-बार सूक्ष्म विचार करना तथा एकाग्र

चित्त से ध्यान करना निदिध्यासन कहलाता है। उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ अर्थात भूमिकाएँ साधनरूप हैं। तीसरी भूमिका में शरीर छूट जाय, तो वह योगभ्रष्ट कहलाता है। वह पुण्य लोकों में भोग कर श्रीमानों के घर में जन्म लेता है।

(४) सत्त्वापत्ति–यह उपर्युक्त तीन भूमिकाओं के फलस्वरूप साध्य अवस्था है। इसमें वेदान्त के श्रवण मनन निदिध्यासन से परमात्मा का यथावत् ज्ञान होता है जिसको अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। 'न स पुनरावर्तते–इस अवस्था को प्राप्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। गीता में भगवान् कहते हैं–

'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मनः संसिद्धिं परमां गताः।।'

अर्थात्–परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन मेरे को प्राप्त होकर दुःख के स्थानरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं।

चौथी अवस्था में दुःखनिवृत्ति तथा आनंद की प्राप्ति होती है। वह उपदेश करता है तथा अन्य व्यवहार करता है। ज्ञान का उपदेश करने में उसका अधिकार होता है। वसिष्ठ ने राम को और शुकदेव ने परीक्षित को ज्ञान दिया।

यज्ञ दान तप से बुद्धि निर्मल तथा भक्ति से निश्चल होती है। ब्रह्माकार वृत्ति से बुद्धि स्फटिक मणि की तरह चमकीली होती है। चमकीली बुद्धि में, दर्पण में रूप की तरह, परमात्मा का स्वरूप यथावत् दिखाई देता है। इस अवस्था में संसार बीज का



नाश होता है। प्रारब्ध कर्म के दुःख की निवृत्ति नहीं होगी। शरीर छूटने से प्रारब्ध कर्म का भी नाश हो जाता है। चौथी भूमिका वाला ब्रह्मवित् कहलाता है।

(५) असंसक्ति–इसका अर्थ है पदार्थों में आसक्ति का न होना। चौथी भूमिका में थोड़ी आसक्ति होती है अर्थात् दूसरे की भलाई में ही आसक्ति होती है। पाँचवीं भूमिका में आसक्ति का सर्वथा अभाव होता है। अभ्यास से समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है। पाँचवी भूमिका वाले को ब्रह्मविद्वर कहा जाता है। चौथी भूमिका में जगत् प्रतीत होता है, पर पाँचवीं भूमिका में वह असत् प्रतीत होता है। बाजीगर हजारों रुपया बनाता है, पर कोई पाँच रुपये में भी वह हजार रुपया नहीं लेता क्योंकि सब जानते हैं कि रुपये झूठे हैं। सिनेमा में परदे पर हलवाई की दुकान नज़र आती है, पर कोई उससे मिठाई खरीदता नहीं। इसी प्रकार पाँचवीं भूमिका वाला जगत् को मिथ्या समझता है। हृषिकेश की झाड़ी में एक महात्मा रहते थे। वह पाँचवीं भूमिका को प्राप्त हो गये थे। एक ब्रह्मचारी आया और उसने महात्मा से उपदेश की याचना की। महात्मा ने कहा, 'यहाँ मेरे पास रहो।' ब्रह्मचारी ने महात्मा को प्रसन्न करने के लिये कहा–'यदि आप मुझपर अनुग्रह करें तो मैं आपको ऐसी वस्तु दूँगा जो अब तक किसी ने किसी को नहीं दी होगी।' महात्मा ने कहा–'तो वह वस्तु मुझे पहले ही दे दो।' ब्रह्मचारी ने महात्मा को पारसमणि दी, जिसके

स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है। महात्मा ने पारसमणि को गंगा में फेंक कर कहा—'अब तुम मेरे पास रहकर निश्चिन्त होकर साधना करो।'

(६) **पदार्थाभाविनी**—यह छठी अवस्था है। पाँचवी भूमि में पदार्थ दीखते हैं पर आसक्ति नहीं होती, छठी भूमिका में पदार्थ भी नहीं रहते। वह समाधि में बैठता है, पर स्वयं नहीं उठता, सेवक उठाते हैं। सारे पदार्थों का अभाव हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त मनुष्य को ब्रह्मविद्वरीयान् कहा जाता है।

बद्रीनारायण में एक महात्मा रहते थे। अलकनंदा के पास शिला पर बैठते ही समाधिस्थ हो गये। बर्फ गिरने लगी और महात्मा के गले तक पहुँच गई। पण्डों ने देखा तो दौड़े आये। तब तक बर्फ सिर तक पहुँच गई। समाधि में साँस बंद रहती है। पण्डों ने बर्फ से निकाला तो महात्मा की समाधि टूट गई। वह फिर दूसरी शिला पर बैठकर समाधिस्थ हो गये। पण्डों ने ऊपर छप्पर बाँध दिया। महात्मा छप्पर से बाहर निकल आये और बोले—'तुम लोग हमारा स्वभाव बिगाड़ रहे हो। हम स्वाभाविक स्थिति में रहना चाहते हैं।'

विषयानंद के लिये मनुष्य घर, राज्य और परिवार त्याग देते हैं। अष्टम एडवर्ड ने पत्नी के लिये अंग्रेजी साम्राज्य के सिंहासन को त्याग दिया, फिर ब्रह्मानंद की तो बात ही दूसरी है।

(७) **तुर्यगा**—तुरीयावस्था में तीनों शरीरों का नाश होता है।



वह न समाधि में बैठता है और न उठता है—सातवीं भूमिकावाला ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है। वह जीवन्मुक्त होता है।

विषयासक्त पुरुष को ब्रह्मानंद अर्थात् परमानंद का अनुभव नहीं हो सकता। मारवाड़ की मरुभूमि में भूमि नजर आती है, जल नहीं। संसारासक्त को संसार ही दीखता है, परमात्मा नहीं। मारवाड़ का आदमी समुद्र के किनारे जाता है, तब एक तरफ भूमि और दूसरी तरफ जल नजर आता है। चौथी भूमि वाले को संसार दीखता है और परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान भी होता है। वही जहाज में बैठकर समुद्र में जाता है, तो पहले किनारा नजर आता है। पर बाद में चारों तरफ जल ही जल नजर आता है। तब का अनुभव है 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।' आनंद सभी चाहते हैं, पर जाते हैं दुःख की तरफ जैसा—

'जैसी प्रीत हराम से वैसी हरि से होय।
चला जाय वैकुण्ठ को पला न पकड़े कोय।।'

ता० २४–६–५०

गीता के छठे अध्याय के आठवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं

**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।**
**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।६.८।।**

ज्ञान विज्ञान से पूर्ण सातवीं भूमिका में आरूढ महात्मा को

बाह्य पदार्थ का विवेक नहीं होता। हेय और उपादेय की बुद्धि नहीं होती। वह संसार से विपरीत मनोवृत्ति वाला होता है। सर्वत्र समदर्शन करना ब्रह्मवेत्ता का लक्षण है। ब्रह्माकार वृत्ति से समाधिकाल में परमात्मा के आनंद का अनुभव होता है। मन के निरोध से ब्रह्मानंद का अनुभव होता है। विषयानंद आभासरूप है। ब्रह्मानंद ही वास्तविक आनंद है। जो परमात्मा के आनंद से आनंदित होता है उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता, वह तो गूंगे का गुड़ जैसा है। उसका ग्रहण अन्तःकरण से ही होता है। मन जब क्रोधाकार या कामाकार होता है, तो उस अवस्था में दुःख-ही-दुःख होता है। मन जब ब्रह्माकार होता है, उस अवस्था में आनंद ही आनंद होता है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' अर्थात्—'मनुष्य का मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है।' अभ्यास से मन को समाहित करके देखिए। समाहित मन में सुख तथा शांति होती है। मन की एकाग्रता से ही भक्ति होती है। मन नहीं लगता, इसलिए भक्ति को छोड़ नहीं देना चाहिए। मक्खियों के डर से मिठाई खाना नहीं छोड़ते! ध्यानकाल में निद्रा आलस्य प्रमाद से ध्यान छोड़ नहीं देना चाहिए। कुछ करने से कुछ तो पल्ले पड़ेगा ही। जब मन स्थिर होगा तो आनंद का अनुभव होगा। भक्ति में मनुष्यमात्र का अधिकार है।

भगवान् कहते हैं—



**'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।**
**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते'।।६.९।।**

इस श्लोक में बताया है कि भक्त या ज्ञानी का नौ प्रकार के मनुष्यों में समभाव हो जाता है। (१) सुहृद्—यह दूसरे पर उपकार करता है पर बदला नहीं चाहता। संत महात्मा इस कोटि में होते हैं। (२) मित्र—यह देता है और लेता भी है। उपकार करता है और कराता है। (३) अरि—शत्रु परोक्ष में और अपरोक्ष में अहित करता है। (४) उदासीन—इसका सब में उपेक्षा भाव होता है। इसका न तो किसी से राग होता है और न किसी से द्वेष होता है। (५) मध्यस्थ—यह वादी-प्रतिवादी के लिये समान होता है। यह दोनों पक्षों की बातें जानता है। और पक्षपात रहित होकर फैसला करता है (६) द्वेष्य—जो दूसरे को कटु वचन कहता है, वह द्वेष्य होता है। मीठे वचन से शत्रु भी मित्र होता है और कटु वचन से मित्र भी शत्रु होता है। 'तस्माद्वदेत् प्रियं वाक्यं वचने का दरिद्रता'—सदा प्रिय वचन बोलना चाहिए। वचन की दरिद्रता क्यों! (७) बन्धु—सम्बन्धी बांधव होते हैं। आज कल बांधव भी दुर्योधन जैसे हो गये हैं! जो सहायता करे, वही बन्धु है। (८) साधु—शास्त्र के अनुसार बर्ताव करने वाला साधु होता है। वह सत्कर्म ही करता है। (९) पापी—निषिद्ध आचरण करने वाले पापी होते हैं।

उपर्युक्त नौ प्रकार के मनुष्यों में जिसकी समबुद्धि हो जाती

है, वह जीवन्मुक्त माना जाता है। ज्ञान हो जाने पर इस समभाव की प्राप्ति होती है, सर्वत्र समभाव हो जाता है। मित्र में राग नहीं और शत्रु में द्वेष नहीं। राग और द्वेष मन में होता है। इससे मन मलिन होता है। समभाव से मन शुद्ध होता है। मलिन मन में परमात्मा के आनंद का अनुभव नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

'विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।'

विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, और चाण्डाल में ज्ञानी समभाव से देखने वाले होते हैं। मनुष्यों में नीच चाण्डाल और पशुओं में नीच कुत्तों में, जिनका स्पर्श होने से स्नान करना चाहिए, ब्रह्मदर्शन करना ज्ञान की पराकाष्ठा है। ऊपर से एक भाव रखने से कोई फायदा नहीं, अन्दर एक भाव होना चाहिए। श्लोक में 'समदर्शिनः' पद है, 'समवर्तिनः' नहीं। सम व्यवहार हो नहीं सकता। समभाव से देखना आवश्यक है। सम का अर्थ ब्रह्म है। गीता में कहा है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' ब्रह्म सम तथा निर्दोष है। समदर्शन का अर्थ ब्रह्मदर्शन है। सबमें ब्रह्म का दर्शन करने वाले ब्रह्मदर्शी होते हैं। समबुद्धि का अर्थ ब्रह्मबुद्धि है। सबमें ब्रह्मबुद्धि होनी चाहिए। सबमें ब्रह्मतत्त्व एक ही है और वह समान है। नाम, रूप, क्रिया, वर्ण, जाति ये तो असत् अर्थात् नकली हैं। वास्तविक तत्त्व तो चेतन है और वह ब्रह्म है। चेतन का ही ग्रहण करना चाहिए। ज्ञानी ब्रह्मबुद्धि से व्यवहार करते



हैं। यह विचार की बात है। असली चीज की उपेक्षा करके नकली चीज को महत्त्व देना विचार के विरुद्ध है। मिट्टी के हाथी-घोड़े से बच्चा खुश होता है और उनके टूट जाने पर दुःखी होता है। पिता न तो खिलौनों से खुश होता है और न उनके टूटने पर दुःखी होता है क्योंकि उसकी दृष्टि में तो सब मिट्टी ही है। ज्ञानी ब्रह्मबुद्धि से ब्रह्मानंद का अनुभव करता है। समबुद्धिर्विशिष्यते— समबुद्धिवाला अतिश्रेष्ठ है।

हरिद्वार में छठी भूमिका को प्राप्त एक महात्मा रहते थे। एकान्त में अभ्यास करते थे। उनके पास साँप बिच्छू आकर बैठते थे। यह भावना का प्रभाव है। समबुद्धि का प्रभाव हिंसक जीव-जन्तु पर भी पड़ता है और वे हिंसक प्राणी समबुद्धि पुरुष के लिये अहिंसक बन जाते हैं। परमात्मा आकाश की तरह व्यापक है। जिधर भी जाओ आकाश सन्मुख हीं रहेगा। इसी प्रकार परमात्मा भी सन्मुख ही रहेंगे। परन्तु वह ब्रह्मभाव से देखने की दृष्टि न होने से परमात्मा के दर्शन नहीं होते। परमात्मा की भावना वाला जहाँ-तहाँ परमात्मा के ही दर्शन करता है।

राम तू ही कृष्ण तू ही है।
तू ही देवन का देव।
तू ही ब्रह्मा शिव शक्ति तू।
तू ही सेवक तू सेव्य है।
सब तू ही तू है। सब कुछ वही है।

तू ही सेवक तू सेव्य है।
बेड़ा तू दरियाव तू।
तू ही वार तू ही पार।
तू ही तिराता तू तरे।
तू ही डूबे मंझ धार।

जहाँ परमेश्वर है वहाँ दुःख नहीं है, शोक चिन्ता नहीं है। सबके अन्दर ब्रह्मबुद्धि करनी चाहिए। मानव शरीर दुर्लभ है। परमात्मा के दर्शन से अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान से मनुष्य-जन्म सफल होता है। सोना चाँदी नोट इकट्ठा करने से क्या होगा? ये तो यहाँ के दुःखों को भी दूर नहीं कर सकते, तो परलोक में क्या सहायता करेंगे? ये ज्ञानी की दृष्टि में तो कूड़ा कर्कट ही हैं। भूखा सोना चाँदी से प्रसन्न नहीं होता। संसार में जैसा प्रेम है, वैसा यदि ईश्वर में प्रेम हो जाय तो संसार सागर से बेड़ा पार हो जाय। मानव जन्म बार-बार नहीं मिलता। यदि हममें समदर्शन अर्थात् ब्रह्मदर्शन की भावना उत्पन्न हो जाये, तो इस जन्म में नहीं तो आगे के जन्मों में हमारी भावना पूरी होकर रहेगी। उत्कट इच्छा में बड़ी शक्ति होती है।

एक बार भगवान् रामचन्द्र जी स्नान करने के लिये सरयू नदी पर गये। वहाँ एक जवान लड़की भी स्नान करने आई थी। राम ने सेवक से कहा—'उस लड़की पर छत्ता धर कर उसे घर पहुँचाकर आओ।' सेवक ने कहा—'इससे तो मेरी निन्दा होगी।



लोग क्या कहेंगे?' राम ने कहा—'अच्छा, मैं ही उसे घर पहुँचा आता हूँ।' और राम लड़की पर छत्ता धर कर उसे घर पहुँचा आये। लोगों में काना-फूसी होने लगी। राजा दशरथ के कानों तक बात पहुँच गई। राजा ने राम को दरबार में बुलाकर कहा—'यह तुम क्या करने लगे हो। तुम युवराज हो और तुम्हें अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल रखना चाहिए। उस लड़की से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?' राम ने कहा—'उस लड़की को भी यहाँ बुलाओ।' लड़की आकर राम के पास बैठ गई। सभी चकित हो गये। राम ने कहा—'मैंने जो कुछ किया वह क्यों किया इस भेद को गुरु वशिष्ठ जी जानते हैं।' राजा ने वशिष्ठ से पूछा। वशिष्ठ ने योग शक्ति से जानकर कहा—'यह लड़की दस जन्मों से राम की भक्त है। उसकी भावना थी कि राम उस पर छत्ता कर उसके साथ-साथ चलें। इस जन्म में उसकी भावना पूरी हो गई।' लड़की ने वहीं पर राम के चरणों में प्राण छोड़ दिये।

ता० २५—६—५०

गीता के छठे अध्याय के दसवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से योग के अर्थात् समाधि के साधन बताते हैं—

**योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।**
**एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।६.१०।।**

योग का अभ्यासी अपने चित्त को परमात्मा में लगाये। ध्यान

रहे, सांसारिक विषयों से हटा कर ही मन को परमात्मा में लगाया जा सकता है। मन को एक दो घंटा परमात्मा में लगाने से काम नहीं चलेगा। मन सतत अर्थात् निरंतर भगवान् में लगाना चाहिए। इसी से परमात्मा के दर्शन होंगे। परमात्मा के दर्शन का फल परमानंद की प्राप्ति है। परमात्मा सच्चिदानंद है। वह आनंद स्वरूप है। मिठास का अनुभव करना है तो खांड से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। आनंद स्वरूप में मन लगाने से ही आनंद प्राप्त होगा। निरंतर आनंद चाहते हैं, तो मन परमात्मा में निरन्तर लगाना चाहिए। भीड़ में ध्यान नहीं लगता। जहाँ दो हैं, वहाँ सांसारिक वार्तालाप होगा। तप एक से होता है और पढ़ाई दो से होती है। एकान्त में अकेला स्थित होकर परमात्मा का ध्यान करे। अकेले में मनुष्य सो भी सकता है और विषय-चिन्तन भी कर सकता है। इसलिये मन और शरीर को जीतने वाला ध्यान करे। आशाओं का, कामनाओं का सर्वथा त्याग कर संग्रहरहित होवे। पास में संग्रह होने से मन उसमें जा लगेगा। इस प्रकार तैयारी करने से ध्यान लग जाता है और आनंद की प्राप्ति होती है। इससे मनुष्य बेपरवाह हो जाता है।

मन पहले ही शुद्ध कर लेना चाहिए। मन को शुद्ध करने के छः साधन हैं। पहला साधन एकान्त में बैठना चाहिए। इससे मन का निरोध होगा। दूसरा साधन अल्पाहार है। हलका और सात्त्विक भोजन करना चाहिए। ज्यादा खाने से आलस निद्रादि



ाधा उपस्थित करते हैं। तीसरा साधन मौन है। वाणी से नहीं ोलना चाहिए, मन से बोलना चाहिए। मननशीलत्वं मौनम्—ननशीलता ही मौन है। मूर्ति का ध्यान भी मनन ही है। ौथा साधन आशारहित होकर निष्काम होना है। पाँचवा करणा-रोध है। इन्द्रियों का निरोध करना चाहिये। उनको उनके विषय ाब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से हटाना चाहिये। छठा साधन मसौसंयमनम् है अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राणों का निरोध करना ाहिये। निरंतर भक्ति से भी प्राणों का निरोध होता है। इन ाधनों से ध्यान होता है।

वेद में लिखा है—परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिये। ृक्ष के नीचे निवास करे। एकान्त में रहे। एकाकी समाधिस्थ ोवे। आप्तकाम हो अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति की कामना ाला हो। जीर्णकाम अर्थात् निष्काम हो। शेर आदि हिंसक ीव-जन्तुओं से भय न करे। इनको मायिक तथा मिथ्या समझकर नसे निर्भय रहे। भय से ध्यान में बाधा पहुँचती है। निर्भय ोकर वृक्ष की तरह स्थित हो। ध्यान का अभ्यास करने से फलता प्राप्त होती है। ध्यान का फल ईश्वरदर्शन है अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का यथावत् ज्ञान होता है। साकार का ध्यान करने से निराकार का ज्ञान होता है। फिर परमानंद की प्राप्ति ोती है।

शंकराचार्य कहते हैं—एकान्त में सुखपूर्वक बैठकर परमात्मा

का ध्यान करना चाहिये। ध्यानावस्था में ही मन समाहित होता है। फिर जगत् के दर्शन नहीं होते। जब तक जगत् के दर्शन हैं, तब तक परमात्मा के दर्शन नहीं। और परमात्मा के दर्शन होते हैं, तो फिर जगत् के नहीं होते हैं। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि अर्जुन! मन को समाहित कर। शांति प्राप्त करने का इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है। संसार से उद्विग्न मन को परमात्मा में ही लगाना चाहिए। संसार से उद्विग्न ही परमात्मा में मन लगाने का अधिकारी है। योगी भर्तृहरि कहते हैं—'संसार में रहकर दूसरों के मुँह की तरफ देखते हैं, पर आशा पूर्ण नहीं होती। यदि गंगा के तरंगों से धोई हुई चट्टानों पर बैठकर मन परमात्मा में लगाओ तो आशा पूर्ण होगी। क्या हिमालय के गुप्त स्थान लुप्त हो गये? वह दिन कब होगा, जब गंगा के किनारे हिम पर्वत की शिला पर ब्रह्मासन लगाकर ब्रह्म में ध्यान लगाने का अभ्यास करें? जब योग-निद्रा आयेगी अर्थात् निर्विकल्प समाधि लग जायेगी, तब शरीर का ध्यान नहीं रहेगा। जंगल के बूढ़े हिरन आकर हमारे शरीर से अपने शरीर की खुजली मिटायेंगे।'

समाधि में कामनाओं का त्याग होता है। वह कुछ भी नहीं चाहता। ध्यान के लिये समय नियत करना चाहिए। यदि ध्यान निरंतर नहीं बनता तो कुछ समय तो परमात्म के लिये लगाना चाहिये। परमात्मा में मन थोड़ा भी लगने से सुख और शांति की प्राप्ति होगी। ध्यान में पहले कष्ट जरूर है, पर परिणाम में आंनद



है। सांसारिक विषय-भोग में पहले सुख और बाद में दुःख। गीता में कहा है—

'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।'

वह सुख प्रथम, साधन के आरम्भ काल में विष के सदृश भासता है पर परिणाम में अमृत के तुल्य है। इसलिये जो भगवद् विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख है, वह सात्त्विक कहा गया है। सांसारिक पदार्थ भी कष्ट के बिना प्राप्त नहीं होते, तो परमात्मा कष्ट के बिना कैसे मिल सकता है? पदार्थ की प्राप्ति में कष्ट होता है और भोग के बाद भी कष्ट ही होता है। आदि और अंत में कष्ट ही है। परमात्मा की प्राप्ति में पहले कष्ट और बाद में आनंद है।

पूर्व जन्म के पुण्य कर्मों से एक राजकुमार को एकान्त में परमात्मा का ध्यान करने की इच्छा उत्पन्न हुई और वह जंगल में गंगा के किनारे गुरु की खोज में चल पड़ा। आखिर एक कुटिया में राजकुमार को महात्मा के दर्शन हुए। उसने महात्मा को अपना सारा हाल कह सुनाया और उपदेश की याचना की। महात्मा ने कहा—'तुम राजकुमार हो। सुख वैभव में तुम पले हो। साधना का कष्ट तुम उठा न सकोगे। अच्छा तो यही है कि तुम घर लौट जाओ।' राजकुमार ने कहा—'मैं सब कुछ त्याग कर आपकी शरण में आया हूँ। अब मैं घर नहीं लौट सकता। मैं

आपकी आज्ञा के अनुसार सब कुछ करूँगा।' महात्मा ने कहा—'तुम रहना चाहते हो तो भले ही रहो। तुम्हें चार बजे सवेरे उठना पड़ेगा। पहले मेरे स्नान के लिये गंगाजी से घड़ा भर लाना होगा।' राजकुमार ने कहा—'मैं सब कुछ करूँगा।'

दो तीन दिन राजकुमार किसी तरह गंगा जी से घड़ा भर कर लाता रहा, पर उसका धैर्य जाता रहा और वह राजधानी में भाग जाने की सोचने लगा। गुरुसेवा का भार उठाने में वह कष्ट अनुभव करने लगा। गीता में कहा है—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।'

'भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम, सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जानो। वे तत्त्व के जानने वाले ज्ञानी तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।'

एक दिन राजकुमार घड़ा भर कर चुपचाप अपने नगर की ओर जाने लगा। महात्मा योग से जान गये। उन्हें राजकुमार पर दया आई। यहाँ आकर यह खाली हाथ नहीं लौट सकता। महात्मा योग बल से घड़े में प्रविष्ट हो गये। घड़े में से आवाज आई—'अरे, मेरी बात तो सुन। तुम क्यों जाते हो?' घड़े को बोलता देखकर राजकुमार चकित हो गया और बोला—'सेवा नहीं होती। कष्ट नहीं उठा सकता।' घड़ा बोला—'मेरी तरफ तो देख, मुझमें क्या भरा है?' राजकुमार ने कहा—'गंगाजल।' घड़े ने



आत्मकथा सुनाई—'एक दिन मैं तालाब किनारे मिट्टी के रूप में था। कुम्हार कुदाली से खोद कर मुझे अपने घर ले आया। लकड़ी से पीटकर मुझे बारीक बनाया। फिर पानी मिलाकर मुझे पैरों से रौंदा। फिर चाक के ऊपर चढ़ाकर मुझे घड़े की शक्ल दी। कुम्हार ने फिर चपटी लकड़ी से पीटा। फिर सूखने के लिये कड़ी धूप में रक्खा। सूखने पर मुझे धधकते हुए आवे में रखा फिर दुकान में रखा। लेने वाले ग्राहक ने मुझे बजा कर देखा। मैं इस आश्रम में लाया गया। अब मुझमें गंगाजल भरा रहता है।' राजकुमार ने कहा—'क्या करूँ?' घड़ा बोला 'चौरासी लाख योनियाँ भुगत कर यहाँ आया है, तो तुझमें ज्ञान रूपी गंगाजल भरना चाहिए। निश्चय और विश्वास के साथ यहाँ रह।' राजकुमार रह गया। महात्मा ने ज्ञानोपदेश दिया। ध्यान से उसे आनंद की प्राप्ति हुई। इस मार्ग में पहले कष्ट और परिणाम में आनंद मिलता है।

ता० २६–६–५०

योग के चार प्रकार हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। मन्त्रयोग में अर्थात् परमात्मा के नाम जप की साधना में सबका अधिकार है। मन्त्रयोग के आचार्य नारद, वाल्मीकि बृहस्पति आदि हैं। मन्त्रयोग के सोलह साधन हैं। पहला साधन भक्ति है। भक्ति तीन प्रकार की है—वैधी, रागात्मिका और परा। वैधी भक्ति श्रवण कीर्तनादि नौ प्रकार की है। प्रेमाभक्ति को

रागात्मिका भक्ति कहते हैं। गोपियों की रागात्मिका भक्ति थी। अभेद भक्ति को पराभक्ति कहते हैं।

दूसरा साधन शुद्धि है। शरीर की शुद्धि स्नान से होती है। स्नान के सात प्रकार हैं। पहली वारुण स्नान अर्थात् जल से स्नान। दूसरा मान्त्र स्नान अर्थात् मंत्र जप से शरीर को पवित्र करना। तीसरा भौम स्नान अर्थात् बीमारी की अवस्था में गीले कपड़े से शरीर पोंछना। चौथा आग्नेय स्नान अर्थात् यज्ञ की भस्म शरीर पर लगाना। पाँचवा वायव्य स्नान अर्थात् गोरज का—गौ की चरण धूली का स्पर्श करना। गोरज का स्पर्श गंगा स्नान के बराबर है। सारे देवता गौ के शरीर में निवास करते हैं। छठा दिव्य स्नान अर्थात् सूर्य की धूप हो और वर्षा भी हो रही हो, उसमें स्नान करना। सातवाँ मानस स्नान अर्थात् ईश्वर के ध्यान से शरीर को पवित्र करना।

मन की शुद्धि का अर्थ है कि मन विकाररहित हो। सवेरे पूर्व दिशा की ओर मुँहकर ध्यान करे और सायंकाल उत्तर-दिशा की ओर। यह दिशा की शुद्धि है। तीर्थ के किनारे देव मंदिर में या किसी सात्त्विक स्थान में ध्यान करे। घर में ध्यान करना हो तो गंगाजल छिड़क कर स्थान को पवित्र करना चाहिये। उस स्थान पर हर कोई न जा सके, ताकि वह सदा पवित्र बना रहे।

तीसरा साधन आसन है। सिद्धासनादि जो आसन शरीर के अनुकूल हो अर्थात् जिसमें शारीरिक कष्ट का अनुभव न होता



हो, वह लगाये। सकाम कर्म के लिये लाल कंबल का आसन बिछाना चाहिए। ज्ञानसिद्धि के लिये काले मृगचर्म का, मोक्ष के लिये सिंहचर्म का और व्याधिनाश के लिये रेशम का आसन होना चाहिए। ऊन का आसन सामान्य तथा सब के लिये है। पृथ्वी का ही आसन बनाने वाले को दुःख की प्राप्ति होती है। बाँस के आसन से दरिद्रता, पत्थर के आसन से व्याधि और घास फूस के आसन से यशहानि की प्राप्ति होती है। पत्तों के आसन से भ्रमवृद्धि होती है। सूती वस्त्र भी नहीं बिछाना चाहिए, इससे जप तप की हानि होती है। गुरुमंत्र के सिवाय मृगचर्म या सिंहचर्म बिछाने का अधिकार नहीं।

चौथा साधन गीता, विष्णुसहस्रनाम कवच हृदयादि का पाठ करना है। पाँचवा साधन आचार है। छठा साधन धारणा है। नासिका में या मूर्त्ति में ध्यान लगाना धारणा कहलाता है। पहले मूर्त्ति की ओर देखना बाह्य धारणा है। उस मूर्त्ति को अन्दर देखना अन्दर की धारणा है। सातवाँ साधन दिव्यदेश का सेवन है। अग्नि, जल, मूर्त्ति और विभूति में भी ईश्वर का ध्यान करना। नाभि में विष्णु का, हृदय में ब्रह्मा का और मस्तक में शिव का ध्यान होता है। आठवाँ साधन प्राणक्रिया है अर्थात् मंत्र का अंगन्यास, करन्यासादि करना। इसके सिवाय मंत्र का पूरा फल नहीं मिलता। नौवाँ साधन मुद्रा है—जैसे अभय मुद्रा, वरमुद्रादि। दसवाँ साधन तर्पण है। देव ऋषि तथा पितृऋणों से

मुक्त होने के लिये तपर्ण करना आवश्यक है। ग्यारहवाँ साधन हवन है। मंत्र का विधिपूर्वक हवन होना चाहिए। बारहवाँ बलिवैश्वदेव है। बलिवैश्वदेव के बिना जो अन्न ग्रहण किया जाता है, वह तामस होता है। अपने आपको ही भगवान् के अर्पण कर देना चाहिए। काम क्रोधादि की भी बलि दी जा सकती है। तेरहवाँ साधन याग है। मानस जप सब समय में किया जा सकता है।

चौदहवाँ साधन मंत्र का जप करना है। मननात् त्रायते इति मन्त्रः—मनन करने से जो रक्षा करता है, वह मंत्र है। मंत्र जप के समय मंत्र के अर्थ का ध्यान करना चाहिए। मंत्र का न तो जल्दी-जल्दी जप करे और न ही धीमे-धीमे। जल्दी जप करने से धनक्षय होता है और धीमे-धीमे करने से रोग हो जाता है। जप का स्थान पवित्र हो। धूप दीप से देवताओं का आकर्षण होता है और गंदगी से प्रेतों का आकर्षण होता है। देवताओं के छायाचित्र भी जपके स्थान पर होने चाहिए। वहाँ कोई तामसिक या राजसिक कार्य नहीं होना चाहिए। मंत्र में भी बीज होता है। मंत्र में छः बातें होती हैं। जैसे 'ॐ क्लीं कृष्णाय नमः'—यह श्रीकृष्ण का मंत्र है। ॐ मंत्र का सेतु है। प्रणव के बिना कोई मंत्र नहीं हो सकता। क्लीं—मंत्र का बीज है। कृष्णाय—मंत्र की शाखा है। नमः—मंत्र के पत्ते हैं। चित्त की शांति पुष्प है और कृष्ण-दर्शन मंत्र का फल है।



पन्द्रहवाँ साधन महाभाव रूप समाधि है। त्रिपुटी में ध्यान का अधिकार होता है। त्रिपुटी के लय से महाभाव रूप की प्राप्ति होती है। इसमें ध्याता और ध्यान का लय होकर मन केवल ध्येयाकार हो जाता है। नियमपूर्वक उपर्युक्त सोलह साधन करने से मंत्र योग की सिद्धि होती है। नियम पालन में शक्ति होती है।

एक मनुष्य प्रथम तिलक वाले का दर्शन कर फिर भोजन करता था। यह उसका नित्य प्रति का नियम था। एक दिन उसको कोई तिलक वाला नजर नहीं आया। इसलिये वह तिलक वाले का दर्शन करने के लिये अपने गाँव से दूसरे गाँव जाने लगा। मार्ग में एक कुम्हार अपने गधे को लिये आ रहा था। गधे पर सफेद मिट्टी लदी थी। कुम्हार जब सफेद मिट्टी खोद रहा था तो वहाँ उसको गड़ा हुआ धन मिला। जमीन से सुवर्ण की अशर्फियाँ निकालते समय कुम्हार के मस्तक पर सफेद मिट्टी लगी थी। कुम्हार अशर्फियों को सफेद मिट्टी में छिपाकर गधे पर लादे आ रहा था। कुम्हार के मस्तक पर सफेद मिट्टी के धब्बे को तिलक समझ कर वह मनुष्य जोर से कह उठा—'दीख गया, दीख गया।' कुम्हार ने समझा कि इस मनुष्य को सफेद मिट्टी में छिपे हुए धन का पता चल गया है। कुम्हार ने उस मनुष्य को कहा—'दीख गया तो चिल्लाते क्यों हो? आधा धन मैं तुमको देता हूँ पर यह बात किसी से न कहना।' कुम्हार ने आधी अशर्फियाँ उस मनुष्य को दीं।

भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि योगी आशारहित तथा संग्रह-रहित होकर अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित हुआ निरन्तर अपने मनको परमात्मा में लगाये। अब आगे भगवान् ध्यान की विधि बताते हैं—

**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।**
**नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।६.११।।**

योगाभ्यास करने के लिये पहले आसन बिछाना चाहिए। आसन स्थिर होना चाहिए। आसन शुद्ध स्थान में होना चाहिए। तीर्थ के किनारे, देव मन्दिर में, घर में ही गोबर से लीप-पोत कर या पानी से धोकर पवित्र किये हुए स्थान पर, जहाँ एकान्त हो, आसन लगाना चाहिए और बहुत देर तक स्थिर आसन का अभ्यास करना चाहिए। कोई आसन बिछाते हैं और कोई शारीरिक आसन—जैसे पद्मासन, सिद्धासन—आदि लगाते हैं। योगशास्त्र में पतञ्जलि कहते हैं—'स्थिर सुखमासनम्।' स्थिर तथा सुखपूर्वक आसन होना चाहिए। आसन का स्थान न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचे हो। ऊँचा आसन होने से गिरने का खतरा होगा। नीचे लगाने से वायु आदि का उपद्रव होगा। आसन समतल भूमि में हो। आसन वस्त्र, मृगचर्म या कुशा का होना चाहिए, गृहस्थ के लिये ऊन का आसन हो। संन्यासी वस्त्र के आसन पर भी अभ्यास कर सकता है। गीता के छठे अध्याय में योग का उपदेश दिया गया है। योग कहते हैं समाधि को। परमात्मा में मन की



स्थिति को समाधि कहते हैं। ध्यान से परमात्मा का यथावत् ज्ञान हो जाता है। इन्द्रिय और मन की स्थिर धारणा को योग कहते हैं। कठवल्ली उपनिषद् में कहा है कि ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि चलायमान न हों, तब योग की सिद्धि होती है। बड़ी सावधानी से साधना करने से योग की प्राप्ति होती है। योग आत्मा और परमात्मा के मिलन को कहते हैं। आलस सिर पर सवार हो जाय तो योग सिद्ध नहीं हो सकता। भगवान् गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुन से कहते हैं—'समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।' जब तेरी बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में अचल और स्थिर ठहर जाएगी तब तू योग को प्राप्त होगा। योग शास्त्र के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। योग का अर्थ चित्तवृत्ति को संसार से हटाना है।

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं—इससे द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है। चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं। इन पाँचों वृत्तियों का निरोध होना चाहिए। पहली क्षिप्त अवस्था है। इसमें रजोगुण की अधिकता होती है और इसके फलस्वरूप मन अधिक चंचल होता है। ऐसी वृत्तिवाला योग का अधिकारी नहीं। दैत्य दानव और पशुओं में बंदर का चित्त क्षिप्त होता है। दूसरी मूढ अवस्था है। इसमें तमोगुण की अधिकता होती है। क्रोधादि से युक्त होता है। निद्रा आलस प्रमाद से भरपूर होता है। राक्षस पिशाच आदि

की ऐसी वृत्ति होती है। जिसका ऐसा चित्त है, वह मनुष्य भी राक्षस ही है। ऐसी वृत्तिवाला योग का अधिकारी नहीं। तीसरी विक्षिप्त अवस्था है। इसमें सत्त्वगुण की अधिकता तो होती है, पर सुख में बड़ी आसक्ति होती है। वह सुखपूर्वक जीवन बिताना चाहता है और इसलिए धनादि प्राप्त करने में लगा रहता है। यह ध्यान में अधिकारी नहीं होता है। 'सत्त्वं सुखे सञ्जयति' अर्थात्—सत्त्वगुण सुख में लगाता है। स्वर्ग में सुख के साधन अधिक होने से देवताओं की ऐसी वृत्ति होती है। सुख के प्रति आसक्ति होने से यह भी योग का अधिकारी नहीं है।

चौथी अवस्था एकाग्रता है। इसमें विजातीय वृत्ति को छोड़कर सजातीय वृत्ति का प्रवाह प्रवाहित होता है। चंचलता कम होती है। ऐसी वृत्तिवाला योग का अधिकारी है। जिस समय मन में एकाग्रता होगी तब सविकल्प समाधि होगी। इसमें त्रिपुटी का—ध्याता, ध्यान और ध्येय का ज्ञान बना रहता है। मूर्त्ति के ध्यान में तीन भाव होते हैं। मूर्त्ति ध्येय है। उसका ध्यान करने वाला ध्याता और ध्यान की क्रिया अर्थात् देखना ध्यान कहलाता है। सविकल्प समाधि में तीनों भाव बने रहते हैं। पाँचवी असंप्रज्ञात अवस्था में अर्थात् निर्विकल्प समाधि में केवल एक भाव होता है। केवल ध्येयाकार वृत्ति होती है। त्रिपुटी का नाश होकर ध्याता ध्येयरूप बन जाता है। ध्याता और ध्यान दोनों लीन हो जाते हैं। निर्विकल्प समाधि में परमात्मा का यथावत् ज्ञान होता



है। वह आनंद में मग्न हो जाता है, परमात्मा में तन्मय हो जाता है।

विषयानंद की प्राप्ति के लिये कितने ही साधनों की आवश्यकता होती है। योगानंद विषय-त्याग से प्राप्त होता है। भोगानंद और योगानंद में बड़ा फ़र्क है। भोगानंद आभासरूप और कल्पित है। योगानंद वास्तविक है। भोगानंद क्षणिक है और योगानंद शाश्वत। सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिये हम जितने लालायित रहते हैं और जितना प्रयत्न करते हैं, उतना ही परमात्मा की प्राप्ति के लिये लालायित होकर प्रयत्न करें, तो परमांनद की प्राप्ति में कुछ भी देर नहीं है। यह शंका होती है कि परमात्मा तो अन्दर ही है तो उसका आनंद क्यों नहीं? बात ठीक है, पर कोई अपनी आँखें बंद कर ले तो सूर्य का प्रकाश कैसे दिखाई देगा? मन का घूमना बंद होने से वह परमात्मा में लगेगा। निर्विकल्प समाधि के आठ अंग हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—कर्मेन्द्रियों का निरोध यम है। ज्ञानेन्द्रियों का निरोध नियम है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों को उनके विषय शब्द स्पर्श रूप रस और गंध से हटाना चाहिए। आसन—शरीर को बिठाकर सीधा रखना और सावधानी से आलस, निद्रादि से बचना आसन है। प्राणायाम—प्राणों का निरोध करना प्राणायाम है। प्राणायाम के अभ्यास से सांस की गति रुक जाती है। प्रत्याहार—मन का

निरोध प्रत्याहार कहलाता है। अर्थात् मन को निर्विषय करना। धारणा—मन को परमात्मा में लगाना धारणा कहलाता है। एक स्थान में चित्त लगाना धारणा है। ध्यान—जिस लक्ष्य में मन लगाया, उसको बार-बार देखना या चिन्तन करना ध्यान कहलाता है। मन पहले इष्टदेव की मूर्ति के चरणों में लगाना चाहिए। फिर क्रमशः ऊपर की ओर मस्तक तक के अवयव तथा अंग भूषण वस्त्रादि का बार-बार एकटक दर्शन तथा मनन करना चाहिए और फिर ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः चरणों तक दृष्टि तथा मन को लगाना चाहिए। बार-बार ऐसा करने से मन कुछ अवश्य बस में हो जायेगा। अभ्यास में बड़ी शक्ति है। अभ्यास से मनुष्य पूर्णता को प्राप्त होता है। इस प्रकार मूर्ति का ध्यान जम जायेगा। पिघली हुई लाख में जिस प्रकार मुद्रा अंकित हो जाती है, उसी प्रकार मूर्ति मन पर अंकित हो जायेगी। समाधि—परम तत्त्व में मन की स्थिति को समाधि कहते हैं। पहले सविकल्प और बाद में निर्विकल्प समाधि होती है। समाधि में मन परमेश्वराकार हो जाता है और परमेश्वर के परमानंद का अनुभव करता है। मन जिसमें लगाया जाता है, वैसा ही वह बन जाता है।

एक सौदागर विदेशों में व्यापार करता था। एक शहर में उसके पास एक वस्तु बच गई, किसी ने भी नहीं खरीदी। वहाँ का यह नियम था कि व्यापारी की जो चीज नहीं बिकती थी,



उसको राजा खरीदता था। व्यापारी ने राजा के पास जाकर कहा—'मेरे पास एक वस्तु बच गई है, किसी ने भी नहीं खरीदी। कृपया आप उसे खरीद कर मुझे अनुगृहीत करें।' राजा ने कहा—'क्या है?' व्यापारी ने कहा—'भूत है। आप जो भी काम बतायेंगे उसको यह भूत फौरन करेगा। हाँ, एक बात ध्यान में रखिए। यदि आप भूत को कोई भी काम नहीं बता सकेंगे तो यह आपको खाने को दौड़ेगा। इसलिये इसको हमेशा काम में लगाये रखिए। इसका मूल्य एक लाख है।' राजा ने भूत को खरीदा और उसको काम बताना प्रारंभ किया। एक दिन राजा कोई काम न बता सका, तो भूत खाने को दौड़ा। राजा जान बचाने की चिन्ता में ही था कि एक महात्मा वहाँ आ पहुँचे। राजा ने महात्मा से उपाय पूछा। महात्मा ने कहा—'एक लंबा बाँस भूत से मँगवाकर महल के सामने गाड़ दो। और खाली समय में भूत को उस पर चढ़ने उतरने को कहो।' राजा ने वैसा ही किया। कुछ समय के बाद भूत मर गया। यह दृष्टान्त है। राजा जीव है। सौदागर अज्ञान है। भूत मन है और परमेश्वर बाँस है। मन से परमात्मा का चिन्तन करते रहने से मन तन्मय हो जाता है।

ता० २७—६—५०

भगवान् श्रीकृष्ण गीता के छठे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में अर्जुन से कहते हैं—'योग की साधना के लिये शुद्ध भूमि में कुशा

मृगछाला और वस्त्र हैं उपरोपरि जिसके ऐसे अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करें। भगवान् ध्यान का साधन बता रहे हैं। ध्यान स्थिर आसन से होता है। बारहवें श्लोक में कहा है—

**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।**
**उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।६.१२।।**

स्थिर आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोकना चाहिए। इन्द्रियों से बाह्य विषयों का त्याग होना चाहिए और चित्त से विषय-चिन्तन न हो। मन को एकाग्र अर्थात् लक्ष्य के सन्मुख करे। फिर योग की साधना करे अर्थात् मनोवृत्ति का प्रवाह परमात्मा की ओर करे। मन से केवल ईश्वर-चिन्तन करे। मन का झुकाव सांसारिक विषयों की ओर है। मन को उधर से हटाकर योग की साधना करे।

अर्जुन ने पूछा—'मन का प्रवाह परमात्मा की ओर क्यों करे?' भगवान् ने कहा—'आत्मविशुद्धये'—अर्थात् मन की शुद्धि के लिये मन परमात्मा में लगाये। कोयले की दुकान में बैठने से कपड़े काले होंगे, क्योंकि काला करना कोयले का स्वभाव है। उलट इसके, जल का संयोग कीचड़ को शुद्ध और साफ करता है। सांसारिक पदार्थ कोयला है। मन कपड़ा है और परमात्मा जल है। विषय का संग करने से मन में काम क्रोधादि और राग द्वेषादि नाना विकार उत्पन्न होते हैं। परमात्मा में लगाने से मैला



मन निर्मल होता है।

अर्जुन ने पूछा—'मन की शुद्धि से क्या होगा?' भगवान् ने कहा—'साफ और शुद्ध मन पर परमात्मा का ज्ञान रूपी रंग चढ़ता है। पवित्र मन में परमात्मा का ज्ञान होता है। ज्ञान का फल मोक्ष। मोक्ष से दुःखनिवृत्ति तथा आनंद की प्राप्ति होती है। दुःख से छूटने के लिये गीता का उपदेश है।

ता० २८—६—५०

गीता के छठे अध्याय के तेरहवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

**समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।**
**संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।६.१३।।**

आसन पर सीधा होकर बैठे, सिर और ग्रीवा एक सीध में रखें और निश्चल होकर बैठे। अर्द्ध मीलित नेत्रों से नासिका के अग्रभाग की ओर देखकर ध्यान करे। हठयोग से भी चित्त पर विजय प्राप्त होती है। 'ह' का अर्थ सूर्य है और 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा। दाहिनी नासिका से जो साँस चलती है, उसे पिंगला नाडी कहते हैं और बाईं को इडा कहते हैं। 'ह' का अर्थ साँस अन्दर खींचना और ठ का अर्थ साँस बाहर छोड़ना। एक स्वर २ घंटा २४ मिनिट चलता है। चन्द्रमा के स्वर में भोजन और सूर्य के स्वर में पुण्य कर्म करना चाहिए। १५ दिन तक एक स्वर चले

तो एक महीने में मृत्यु होती है। बाईं नासिका से स्वर चले तो पूर्व और उत्तर दिशा की यात्रा न करे। दाहिनी चले तो दक्षिण पश्चिम की यात्रा न करे। हठयोग से शरीर सुदृढ होता है।

यह वायुप्रधान योग है। इसके सात साधन हैं। पहला साधन षट् कर्म—धोती, वस्त्री, नेती, नौली, त्राटक और कपाल भाती। धोती—एक वस्त्र का टुकड़ा मुँह से खाकर फिर निकालना। वस्त्री—गुदा से जल अन्दर खींचना और बाहर निकालना। नेती—नासिका से डोरा अन्दर करना। नौली—खड़ा होकर दोनों हाथ जंघा पर रखकर पेट को पीछे की ओर ले जाना और गोलाकार हिलाना। त्राटक—एकान्त में दृष्टि को स्थिर करने का अभ्यास। कपालभाती—आसन में बैठकर शरीर को सुदृढ बनाना।

त्राटक के तीन भेद हैं—आन्तर त्राटक, बाह्य त्राटक और मध्यम त्राटक। आन्तर त्राटक—हृदय में या भौंहों के बीच में दृष्टि को स्थिर करना, अपलक तथा एकटक देखना। इससे चित्त स्थिर होता है। सूर्य, चन्द्रमा की ओर दृष्टि स्थिर करना बाह्य त्राटक है। कृष्ण या राम की मूर्ति को अपलक देखना भी बाह्य त्राटक के अन्तर्गत है। जलती हुई मोमबत्ती की ज्योति को, नासिका के अग्रभाग को या दीवार में शीशे में चवन्नी भर कागज का टुकड़ा चिपका कर उसको अपलक देखना मध्यम त्राटक है। शीशे में मुँह और कागज का चिह्न दीखता है। जब केवल चिह्न दिखाई दे और प्रतिबिंब न दिखाई दे तब वृत्ति स्थिर समझनी चाहिए। पहले दिन एक मिनिट, दूसरे दिन दो मिनिट, तीसरे दिन तीन मिनिट इस प्रकार आठ घंटे तक अभ्यास करना चाहिए। इससे आकर्षण शक्ति बढ़ती है। यह हठयोग का पहला साधन है।

दूसरा साधन आसन है। आसन ८४ हैं उनमें ३२ कल्याणकारी हैं। तीसरा साधन मुद्रा है। यह ३२ प्रकार की है। चौथा साधन प्रत्याहार है। चंचल मन को एक तरफ लगाने को प्रत्याहार कहते हैं। गीता में कहा है—

'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।'

अर्थात्—यह स्थिर न रहने वाला चंचल मन जिस-जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है, उस उससे रोक कर बारंबार परमात्मा में ही निरोध करे।

पाँचवा साधन प्राणायाम है। इसके आठ प्रकार हैं। इससे साँस रुकती है और मन भी रुकता है। मन और प्राण का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। युक्त आहार-विहार करने वाला इसे कर सकता है। खान-पान का विचार न करने से इससे मनुष्य पागल हो जाता है। बिना गुरु के प्राणायाम नहीं करना चाहिए। इसमें बहुत ही संयम-पूर्वक रहना पड़ता है। छठा साधन ध्यान है। मंत्र योग में मूर्ति का ध्यान होता है और हठयोग में ज्योति का ध्यान।

हृदय में ज्योति का ध्यान करने से परमात्मा की ज्योति के दर्शन होते हैं। सातवाँ साधन समाधि है। इसको महाबोध समाधि कहते हैं। समाधि में मन लीन हो जाता है, पर समाधि से उठने से फिर चंचल हो जाता है। समाधि को प्राप्त हठयोगी में चमत्कार की शक्ति आ जाती है। इस शक्ति का दुरुपयोग करे तो वह कल्याण में बाधक बन जाता है। योग शास्त्र में कहा है—परमात्मा में मन लगाने से सिद्धियों की प्राप्ति होती है। आगे कहा है कि ये सिद्धियाँ कल्याण में बाधक बनती हैं।

सिद्धियाँ आठ हैं। अणिमा—इससे शरीर को इतना सूक्ष्म बनाया जा सकता है कि पत्थर में भी प्रवेश कर सके। हनुमानजी ने लंका में प्रवेश करते समय मच्छर का सा सूक्ष्म रूप धारण किया था। भजन से भी सिद्धि की प्राप्ति होती है। महिमा—शरीर को मोटा, लंबा, चौड़ा बनाना। सुरसा ने मुँह फैलाया तो हनुमानजी ने उससे दूना अपने शरीर को बढ़ाया था। लघिमा—शरीर को रुई की तरह हलका बना कर चाहे-जहाँ उड़ कर चले जाना। गरिमा—बड़ा बोझवाला शरीर बनाना। शक्ति लगने पर लक्ष्मणजी का शरीर इतना बोझ वाला हो गया था कि मेघनाद भी उनको उठा न सका। भीम कमल पुष्प लाने के लिये कुबेर के तालाब पर दो पहाड़ों के बीच में से होकर जा रहे थे। मार्ग में बंदर पड़ा था। किसी जीव को लाँघकर जाना परमात्मा का ही उल्लंघन करना है, क्योंकि प्रत्येक जीव में परमात्मा का निवास है—यह



सोचकर भीम ने बंदर से कहा—'हम को जाने का रास्ता दो।' बंदर ने कहा—'बूढ़ा हूँ। उठा नहीं जाता। तुम ही उठा कर मुझे एक तरफ कर दो।' भीम ने अपना पूरा जोर लगाया पर बंदर को उठा न सका। भीम ने कहा—'मुझसे तो नहीं उठाया जाता। यदि मैंने शास्त्र को न जाना होता, तो तुमको वैसे ही लाँघकर जाता, जैसे हनुमान ने समुद्र को लाँघा था।' भीम को भक्त जानकर हनुमानजी उठकर बैठ गये और मार्ग देकर बोले—'मैं ही तो हनुमान हूँ। यहाँ पर विश्राम कर रहा था।' भीम ने हनुमानजी को प्रणाम किया और बोला—'आपने जब लंका को जलाया था तो क्या आपका ऐसा ही रूप था?' हनुमान ने कहा—'नहीं, क्या तुम उस रूप को देखना चाहते हो?' भीम ने कहा—'हाँ, मैं देखना चाहता हूँ।' हनुमानजी ने उस समय का अपना भयानक स्वरूप दिखाया तो भीम ने भयभीत होकर आँखें बन्द कर कहा—'कृपया अपने इस रूप को समेट लीजिये। मुझसे नहीं देखा जाता।' भीम को अपनी शक्ति पर जो गर्व हो गया था, वह जाता रहा।

प्राप्ति—सूर्य चन्द्रमा तक हाथ पहुँचाना। प्राकाम्य—इच्छानुसार चाहे जैसा बन जाना। वशित्व—भूत, भविष्य, वर्तमान को जानना। ईशित्व—चाहे जो वस्तु पैदा करना और नष्ट करना। सिद्धि से अपने को जवान सुन्दर भी बनाया जा सकता है। मन में भोग की इच्छा हो तो ये सब सिद्धियाँ पतन का कारण बन जाती हैं।

बड़े-बड़े योगी सिद्धि से नष्ट-भ्रष्ट हो गये।

गुरु मच्छीन्द्रनाथ बड़े भारी हठयोगी थे। उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त थीं। भोग की इच्छा से प्रेरित होकर वे योग की गुफा से निकल कर सिंहल द्वीप चले गये। वहाँ की राजकन्या का स्वयंवर हो रहा था। अनेक देशों के राजा एकत्रित हुए थे। मच्छीन्द्रनाथ राजकन्या पर आसक्त हुए। सिद्धियों की शक्ति से उन्होंने अपने को आकर्षक सुन्दर युवक बनाया। सौन्दर्य पर मुग्ध होकर राजकन्या ने मच्छीन्द्रनाथ के गले में वरमाला पहनाई। अब वे दामाद बनकर राजमहल में ही भोग-विलास करते हुए जीवन बिताने लगे। कई वर्ष बीत गये। मच्छीन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ के पास दूसरा योगी आ गया और बोला—'तू अपने योग की डींग मारता है। तेरा गुरु तो नरक में पड़ा है। ध्यान करके देखो।' गोरखनाथ ने ध्यान करके देखा तो योगी गुरु के भोगी स्वरूप को जान गये। गोरखनाथ गुरु का उद्धार करने की इच्छा से प्रेरित होकर सिंहलद्वीप गये और गुरु से बोले—'यहाँ से चलिये। आपका स्थान गुफा में है, राजमहल में नहीं।' मच्छीन्द्रनाथ के दो बच्चे पैदा हो गये थे और उनमें आसक्ति हो गई थी, पर वे शिष्य के आग्रह को टाल न सके। मच्छीन्द्रनाथ ने चलते समय दो सोने की ईंटें झोली में ले लीं। मार्ग में शौच करने जाना था तो वे गोरखनाथ से बोले—'झोली का ख्याल रखना।' गोरखनाथ ने झोली में देखा तो दो सुवर्ण की



ईंटें थीं। गोरखनाथ ने ईंटों को कुएँ में डाल दिया। झोली में ईंटें न देखकर मच्छीन्द्रनाथ ने पूछा 'सोने की ईंटें कहाँ हैं?' गोरखनाथ—'योगी को स्वर्ण से क्या काम? आपको सोना चाहिए तो इस पहाड़ को देखो और चाहे जितना ले लो।' गोरखनाथ की इच्छा से पहाड़ सोने का हो गया। शिष्य की सदिच्छा को समझकर गुरु मच्छीन्द्रनाथ फिर योग की साधना के लिये गुफा में बैठ गये।

ता० २६-६-५०

गीता के छठे अध्याय के तेरहवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"काया, सिर और ग्रीवा को समान कर और अचल कर दृढ होकर अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ योग की साधना करे।" परमात्मा में मन की स्थिति को योग कहते हैं। योग चार प्रकार के हैं—मंत्र योग, हठ योग, लय योग और राज योग। परमात्मा में मन लगाने के ये चार योग चार तरीके हैं। मंत्र योग और हठ योग की साधना के सम्बन्ध में कहा जा चुका है।

लय योग का उद्देश्य प्रकृति को परमात्मा में लय करना है। इसके नौ साधन हैं। पहला साधन यम है। योगशास्त्र में यम पाँच हैं, परन्तु अन्य शास्त्रों में दस बताये गये हैं। पहला यम अहिंसा है। मन, वचन तथा कर्म से किसी को किसी तरह का दुःख न पहुँचाना अहिंसा है। दूसरा सत्य है। हमारे शास्त्रों में

कहा है—'सत्यमेव जयते नानृतम्।' सत्य की ही जीत होती है, झूठ की नहीं। हमेशा सत्य बोलना चाहिये। सत्य का पालन करने वाले देवयान मार्ग से जाते हैं। छोटी-छोटी बातों में झूठ बोलने की आदत बहुत बुरी है। तीसरा अस्तेय है। अस्तेय का अर्थ है किसी की किसी तरह की चोरी न करना। चौथा ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्य की रक्षा करना है। पाँचवाँ दया है। छठा आर्जव है। मन की सरलता को आर्जव कहते हैं।

विचार उचार तथा आचार में एकता होनी चाहिये। कहा है—

'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।।'

अर्थात्—दुष्ट लोगों के मन में एक बात होती है, वचन में दूसरी बात और आचरण में तीसरी ही बात होती है। महात्मा लोगों के मन वाणी और आचरण में एकता होती है। सातवाँ क्षमा है। आपत्ति के आने और कटु वचन सुनने पर सहनशीलता का होना। आठवाँ धृति है। दुःख के समय में धैर्य रखना धृति है। नौवाँ मिताहार अर्थात् अल्पाहार है। बहुत खाने से आलस निद्रादि आ घेरते हैं। गीता में कहा है कि युक्त आहार-विहार करने वाले का ही योग सिद्ध होता है। दसवाँ शौच अर्थात् बाहर-भीतर की शुद्धि। मन तथा शरीर दोनों को सदा शुद्ध रखना चाहिये।



लय योग का दूसरा साधन नियम है। योग शास्त्र में नियम पाँच हैं। अन्य शास्त्रों में दस हैं। पहला नियम तप है। शीतोष्ण तथा कष्ट को सहन करने का अभ्यास होना चाहिये। दूसरा नियम संतोष है। पुरुषार्थ करने पर भाग्यानुसार जो कुछ मिलता है उसमें संतोष रखना चाहिये। जितना हमारा है, हमें मिलकर रहेगा। तृष्णा के कारण मन में सदा हाय-हाय बनी रहती है। गोस्वामीजी ने कहा है:—

**'करमु कमण्डल कर गहे तुलसी जहँ लगि जाय।**
**सागर सरिता कूप जल बूंद न अधिक समाय।।'**

हमें भाग्य पर विश्वास तथा संतोष रखना चाहिये।

'संतोषं परमं सुखम्'

अर्थात् संतोष परम सुख है।

'सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैः वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दैः फलैः मुनिवराः क्षपयन्ति कालं
संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम्।।'

सर्प वायु खाकर रहते हैं, पर वे दुर्बल नहीं होते। सूखा घास खाकर भी हाथी बलवान् होते हैं। कन्द फल खाकर मुनिवर अपना समय व्यतीत करते हैं। संतोष ही सुख का प्रधान कारण है।

तीसरा नियम आस्तिकता है। शास्त्र गुरु तथा ईश्वर में श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये। 'नास्तिको वेदनिन्दकः'—वेद की निन्दा करने वाले नास्तिक हैं। चौथा नियम दान है। यथा शक्ति दान देते रहना चाहिये। गीता में कहा है:—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।' अर्थात्—'यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं।' धन, अन्न, वस्त्र, गौ, विद्या, मीठे वचन—इनका दान करना चाहिये।

'प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्माद्वदेत् प्रियं वाक्यं वचने का दरिद्रता।।'

प्रिय वचन बोलने से सब प्रसन्न होते हैं। इसलिये सदा प्रिय वचन बोलना चाहिये। वचन में दरिद्रता क्यों? पाँचवाँ नियम देव-पूजन है। नियमपूर्वक देव-पूजन करना चाहिये। छठा नियम सिद्धान्त-श्रवण है। श्रवण भी भक्ति का एक प्रकार है। वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुष्ठान करना ही हमारी संस्कृति है। आज तो लोग अपनी संस्कृति से अनभिज्ञ होते जा रहे हैं। कालेजों में तो धर्म-शिक्षा का नाम तक नहीं है। जीव और जगत् सब ब्रह्म है और ब्रह्म के सिवा कुछ भी नहीं है—यह हमारा उच्च कोटि का सिद्धान्त है। रामायण में गोस्वामी जी ने कहा है।

'सियाराम मय सब जग जानी।
करेऊँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।



सारा जगत् ब्रह्ममय होने से वंदनीय है। ब्रह्म की भावना से मनुष्य ब्रह्मस्वरूप बन जाता है। शास्त्रीय सिद्धान्तों का श्रवण करना चाहिये।

श्रोता चार प्रकार के होते हैं। एक श्रोता बकरी जैसा होता है। खड्डे में जल हो तो किनारे पर खड़ी रहकर बकरी शुद्ध जल पीती है। बकरी जैसा श्रोता शुद्ध मन से कथा में शुद्ध भाव ग्रहण करता है। दूसरा श्रोता भैंस जैसा होता है। भैंस खड्डे या तालाब के जल में घुस कर जल को गंदा करती है। और फिर पीती है। शौच पेशाब भी पानी में ही करती है। भैंस जैसे श्रोता सत्संग के वातावरण को कुतर्क से गंदा कर देते हैं। संन्यासी हैं तो फिर जंगल में क्यों नहीं रहते? ऐसे कुतर्क से अपना और दूसरों का अहित करते हैं। ज्ञानी जंगल में रहेगा तो जनता को ज्ञान का उपदेश कौन करेगा? शुकदेव जंगल में होते तो राजा परीक्षित का उद्धार कैसे होता? जहाँ बुराईयाँ अधिक होती हैं वहाँ महात्मा बिना बुलाये ही जाते हैं और सन्मार्ग का उपदेश करते हैं। तीसरा श्रोता गौ के बछड़े जैसा होता है। गौ के स्तन में दूध भी होता है और खून भी, पर बछड़ा स्तनपान करते समय केवल दूध का ग्रहण करता है, खून का नहीं। बछड़े जैसा श्रोता सत्संग में केवल गुणों को ग्रहण करता है। चौथा श्रोता चीचड जैसा होता है। चीचड गौ के स्तन से खून पीती है, दूध नहीं। चीचड जैसा श्रोता सत्संग में कुतर्क से बुरी बात को ही ग्रहण करता है। जैसे

'द्रौपदी के पाँच पति थे, तो आजकल होने में क्या है?' ऐसी बातों से श्रवण पर पानी फिर जाता है।

श्रोताओं के और भी चार भेद हैं। एक तो श्रोता होता है। अर्थात् यथावत् समझने वाला। दूसरा होता है सोता—सत्संग में जाकर वहाँ सोने वाला। ऐसे एक श्रोता ने रामायण की पूरी कथा सुनकर पंडित जी से पूछा 'रावन ने सीता को हरण (हिरन) किया था तो हिरन से फिर सीता बनायी या नहीं?' 'राम-रावण में राक्षस कौन था?' तीसरा होता है सरोता अर्थात् कुतर्क से अच्छी बात को काटने वाला। चौथा स्रोता अर्थात् बहता पानी का प्रवाह। एक ओर से आया और दूसरी ओर चला गया। एक कान से सुना और दूसरे से निकाल दिया। बात को यथावत् समझना श्रवण है। उस पर विचार करना मनन कहलाता है और उस पर चलना निदिध्यासन है। फिर फल की प्राप्ति होती है।

लंदन या पैरिस का ज्ञान श्रवण से होता है। वैसे ही श्रद्धापूर्वक श्रवण से अदृश्य का ज्ञान होता है। भगवान् श्रीकृष्ण के मुँह से सिद्धान्त का श्रवण करने से अर्जुन का शोक तथा मोह दूर हो गया और उसको परम शांति मिली। 'श्रुतं हरति पापानि'—श्रवण से पाप दूर होते हैं और पुण्य की प्राप्ति होती है।

ता० ३०-६-५०

लय योग के नौ साधन हैं। दूसरा साधन नियम है। छह



नियम बताये जा चुके हैं। सातवाँ नियम लज्जा है। कर्तव्य के न करने में और बुरा काम करने में लज्जा का अनुभव होना चाहिये। इससे मनुष्य कर्तव्य का पालन करेगा और बुरे कामों से बचेगा। कई लोग सत्संग में आने में लज्जा अनुभव करते हैं, पर सिनेमा देखने में उन्हें किसी तरह की हिचकिचाहट नहीं होती लज्जा स्त्री का भूषण है। निर्लज्ज स्त्री नष्ट होती है। आठवाँ साधन मति है। मति कहते हैं विवेक बुद्धि को। विवेक बुद्धि से मनुष्य सत् और असत् का विवेक करता है। असत् से मन को हटाकर सत् में लगाना विवेक बुद्धि से ही होगा। निर्बुद्धि मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। बुद्धि चार प्रकार की है। पहली चर्म बुद्धि है। चमड़े में लोहे का सूआ घुसाओ तो छेद बन जायेगा, पर सूआ निकाल लेने से छेद बन्द हो जाता है। सत्संग में अच्छी बातें सुनकर कुछ लोग प्रभावित होते हैं, पर सत्संग से उठते ही जैसे के तैसे हो जाते हैं। उनके आचरण पर सत्संग का कोई असर नहीं होता। दूसरी तैल बुद्धि होती है। तेल की बूंद जल में डाली जाय तो वह जल पर फैल जाती है। ऐसी बुद्धि वाले लोग थोड़ा सुनकर भी मनन द्वारा उसको बढ़ा लेते हैं। भाष्यकार शास्त्र के तीन चार शब्दों के छोटे से सूत्र की व्याख्या चालीस पचास पृष्ठों में करते है। वे अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि से सूत्रार्थ को विस्तृत बनाते हैं। थोड़ा सुनकर बहुत समझना इस बुद्धि का चमत्कार होता है। तीसरी छाज बुद्धि होती है। छाज से

अनाज को फटकारने से कूड़ा कर्कट निकल जाता है। ऐसी बुद्धि वाले अवगुण को त्याग कर गुण का ग्रहण करते हैं। चौथी चलनी बुद्धि होती है। चलनी में आटा छानने से आटा तो नीचे निकल जाता है और कूड़ा कर्कट चलनी में रह जाता है। ऐसी बुद्धि वाले सत्संग में भी अपने कुतर्क से अवगुण ग्रहण करते हैं, गुण नहीं।

अकबर के दरबार में बीरबल बड़ा बुद्धिमान् था। एक दिन बीरबल दरबार में देर से पहुँचा। अकबर ने पूछा—"आज देर क्यों?" बीरबल ने कहा—"हुजूर, आज एकादशी है। पूजा पाठ में देर हो गई।" अकबर ने पूछा—"एकादशी क्या होती है?" दरबार में उपस्थित एक मौलवी बीरबल को लज्जित करने के लिये बोला—"जनाब, एकादशी खुदा की औरत होती है।" अकबर ने बीरबल से पूछा—"क्या एकादशी खुदा की औरत है?" बीरबल ने कहा—"जी हुजूर, एकादशी खुदा की औरत है, लेकिन उसको हिन्दू रखते हैं!" बीरबल की बुद्धिमत्ता से मौलवी निष्प्रभ हो गया। जनक की सभा में अष्टावक्र मुनि का, जिनका शरीर आठ जगह टेढा-मेढा था, बुद्धिमत्ता के कारण ही सन्मान हुआ था।

आज शास्त्रानुसार सात्त्विक बुद्धि नहीं है। सात्त्विक बुद्धि के बिना आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। शास्त्रीय बुद्धि सम्पादन करनी चाहिये।



'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
यथा सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः।।'

बुद्धिमान् ही बलवान् होता है। निर्बुद्धि में बल कहाँ? एक खरगोश ने बुद्धि के बल से एक मदोन्मत्त शेर का खात्मा कर दिया। जंगल में एक शेर प्रतिदिन बहुत जीवों को मारता था। पशुओं का प्रतिनिधि मण्डल शेर की सेवा में पहुँच कर बोला—'हम आपसे अभय दान माँगने के लिये आये हैं। रोज आपकी सेवा में एक पशु भेज दिया करेंगे। उसे खाकर आप अपनी भूख मिटाइये। अन्य जीवों को निर्भय कर दीजिये।'

शेर ने "तथास्तु" कहा। एक दिन खरगोश की बारी आई। खरगोश शेर की सेवा में देर से पहुँचा। शेर ने पूछा—"तुमने देर क्यों की?' खरगोश ने कहा—मुझे एक आपके जैसे ही शेर ने पकड़ा था। इसलिये देर हो गई। मेरे साथ चलें तो मैं आपको वह शेर दिखा सकता हूँ।" शेर ने कहा "चलो, मैं उस शेर को मार दूँगा।" खरगोश शेर को एक कुएँ पर ले गया और बोला—"वह शेर इसके अन्दर है।" शेर ने कुएँ में झाँका तो जल में अपना प्रतिबिंब देखा। शेर ने गर्जना की तो कुएँ से प्रतिध्वनि आई। क्रोध से आग बबूला होकर अपने ही प्रतिबिंब को मारने के लिये शेर कुएँ में कूद पड़ा और जल में डूबकर मर गया।

नौवाँ नियम जप है। किसी भी ईश्वरीय मंत्र का जप करना चाहिये। दसवाँ नियम व्रत है। व्रतों का अनुष्ठान करते रहना

चाहिये।

तीसरा साधन स्थूल क्रिया है। इसके अन्तर्गत आसन तथा मुद्रादि हैं। चौथा साधन सूक्ष्म क्रिया है। इसके अन्तर्गत प्राणायाम तथा स्वरादि विवेक है। पाँचवाँ साधन प्रत्याहार है। जैसे कछुआ अपने अङ्गों को अपने में समेट लेता है वैसे मन को विषयों से हटा कर अन्तर्मुख करना प्रत्याहार है। इससे कई तरह के शब्द भीतर से सुनाई देते हैं। प्रथम भ्रमर के गुञ्जार जैसा और फिर घुंघरू, घंटा, मृदङ्ग भेरी, सिंहगर्जना, वीणा और ॐ के नाद सुनाई देते हैं। फिर क्रमशः ज्योति, नीहारिका, जुगनु, चन्द्रमा, अग्नि, सूर्य, हजारों सूर्य के प्रकाश ज्योति में दिखाई देते हैं।

छठा साधन धारणा है। पाँच महाभूतों में से एक-एक में चित्त लगाना धारणा है। धारणा के पाँच प्रकार हैं। पैर से घुटनों तक पृथ्वी का स्थान, घुटनों से गुदा तक जल का स्थान, गुदा से हृदय तक अग्नि का स्थान, हृदय से भ्रू तक वायु का, भ्रू से ब्रह्मरन्ध्र तक आकाश तत्त्व का स्थान है। धारणा से षट् चक्र का भेदन होता है। प्रश्नोपनिषद में ७२ करोड़ ७२ लाख २१ हजार २०१ नाडियाँ बतायी हैं। इनमें तीन नाडियाँ प्रधान हैं। मेरुदण्ड के वाम भाग में इडा नाडी और दाहिने भाग में पिंगला और मध्य में सुषुम्ना नाडी है। इन तीन नाडियों का मिलाप भ्रू से ऊपर होता है। मन को वहाँ ले जाकर स्नान कराने से महान् पुण्य की प्राप्ति होती है। गुदा से ब्रह्मरन्ध्र तक सुषुम्ना नाडी है।



इसमें छह ग्रन्थियाँ हैं जो षट्चक्र कहलाती हैं। पहला चक्र मूलाधार है। यह चार दलवाला होता है। इसके देवता गणेश हैं। दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है। यह छह दलवाला है। इसके देवता ब्रह्मा हैं। तीसरा चक्र मणिपूरक है। यह आठ दल वाला होता है। इसके देवता विष्णु हैं। चौथा चक्र अनाहत है। यह दस दल वाला होता है। इसके देवता शंकर हैं। पाँचवाँ चक्र विशुद्धि है, यह सोलह दल वाला होता है, देवता रुद्र हैं। छठा चक्र आज्ञा है, यह दो दल वाला होता है। इसके देवता प्रकृतिपुरुष हैं।

योग क्रिया से कुण्डलिनी जागृत होती है जिससे जीव षट्चक्र-भेदन करके ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् ब्रह्मचक्र में पहुँचता है। वहाँ सहस्रदल कमल में चिदानन्द परब्रह्म का निवास है। लय योग वाले सहस्रदल कमल में परमात्मा का निवास मानते हैं।

सातवाँ साधन ध्यान है। लय योग वाले बिन्दु का ध्यान करते हैं। मूर्ति के ध्यान से ज्योति का ध्यान सौ गुना अधिक है। ज्योति के ध्यान से बिन्दु का ध्यान सौ गुणा अधिक है। आठवाँ साधन लय क्रिया है। इसके अन्तर्गत समाधि में सहायक क्रियाएँ आती हैं। नौवाँ साधन समाधि है। जीव परमात्मा में लीन होता है। लय योग से जीव माया-विशिष्ट परमात्मा में लीन होता है। शरीर छूटने के बाद महाप्रलय में भी लीन रहता है। महाप्रलय के बाद फिर जीव का आवागमन शुरू होता है। माया रहित परमात्मा की प्राप्ति से आवागमन का चक्र बन्द हो जाता है।

माया-रहित परमात्मा की प्राप्ति राज योग से होती है।

योगानन्द का अनुभव करना चाहिये। चौरासी लाख योनियों में भोग प्राप्त होते हैं। योग की प्राप्ति के लिये केवल मानव शरीर है। योग की प्राप्ति से मानव जन्म सफल होता है।

ता० १–७–५०

परमात्मा में मन लगाने को योग कहते हैं। मंत्र-योग, हठयोग और लय योग—इन तीनों योगों में सगुण परमात्मा में मन लगाया जाता है। राजयोग में मन निर्गुण परमात्मा में लगाया जाता है। राज योग सब योगों का राजा है, इसीलिये उसको राजयोग कहा जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य राजयोग के प्रवर्तक हैं। योग से आत्म-दर्शन अर्थात् परमात्मा के दर्शन होते हैं। योग की साधना करना धर्म है।

मन की अनेक वृत्तियाँ हैं। मन संसाराकार होने से दुःख मिलता है। मन के परमेश्वराकार हो जाने से आनंद की प्राप्ति होती है। जगत् माया से बना हुआ है, इसलिये दुःखरूप है। परमात्मा माया-रहित है, इसलिये आनंद-स्वरूप है। संसाराकार मन को परमेश्वराकार बनाने से परमात्मा का ज्ञान होता है।

राज योग में विचार, बुद्धि की प्रधानता है। मंत्र योग में जप की, हठयोग में प्राणायाम की और लय योग में प्रकृतिपुरुष की प्रधानता होती है। राजयोग में केवल विचार, बुद्धि की आवश्यकता होती है। राज योग में परब्रह्म का ध्यान किया जाता है। परब्रह्म



निर्गुण तथा निर्विकल्प है, उसमें मन लगाने से मन निर्विकल्प होता है। निर्विकल्प मन से निर्विकल्प समाधि होती है। योग के आठ अंग सब योगों के भित्ति-स्वरूप हैं। राज योग के पन्द्रह साधन हैं। पहला साधन यम है। इन्द्रियों का संयम यम है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है—इस विचार से इन्द्रियों का संयम किया जाय। सब ब्रह्म है—यह विचार दृढ हो जाने से इन्द्रियाँ शांत हो जाती हैं। इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिये।

राज योग का दूसरा साधन नियम है जिससे ब्रह्माकार वृत्ति में अन्य सांसारिक अर्थात् विजातीय वृत्ति बाधक न हो। अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति बनाये रखना ही नियम है। इससे आनंद की प्राप्ति होती है। तीसरा साधन त्याग है। परब्रह्म के अवलोकन से सारे प्रपञ्च का त्याग होना चाहिये। सुवर्ण के सब आभूषण सुवर्णमय हैं। कड़ा, कुण्डल, कंगन आदि नाम-रूप तो कल्पित हैं। नामरूपात्मक जगत् कल्पित है मिथ्या है। एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है। केवल चेतन का ग्रहण होना चाहिये। खाण्ड के बने हुए सब खिलौने खाण्डरूप ही हैं। जगत् ब्रह्मरूप है—इस विचार से मिथ्या जगत् का त्याग होना चाहिए।

चौथा साधन मौन है, अर्थात् चुप हो जाना। पास दूसरा कोई होगा तो बोलना पड़ेगा या इशारा करना पड़ेगा। मौन की साधना एकान्त-सेवन से होती है। जिस परमात्मा से मन के साथ वाणी लौट आती है उसमें स्थित हो जाने से मौन हो जाता है। फिर

परमात्मा के सिवा दूसरा कोई नज़र नहीं आता। गाढ निद्रा में दूसरे का पता नहीं होता। विचार काल में दूसरे का भान नहीं होता। पाँचवाँ साधन देश है। 'येन सर्वमिदं ततं व्याप्तम्'—जिससे यह सब व्याप्त है, वह परमात्मा ही प्रिय देश है। आदि में, मध्य में और अन्त में वही है और उसके सिवाय और कुछ भी नहीं है। सुवर्ण में गहना नहीं है पर गहने में तो सुवर्ण ही है। केवल परमात्मा है, नामरूपात्मक जगत् कुछ भी नहीं है।

छठा साधन काल है। काल शब्द का अर्थ परमात्मा है। 'कलनात् सर्वभूतानाम्'—सारे जीवों की रचना करने से परमात्मा को काल कहा जाता है। राजयोग में काल परमात्मा ही है। सातवाँ साधन आसन है। इसमें भावना का ही आसन है। जिस वृत्ति से सुखपूर्वक निरंतर ब्रह्म का चिंतन हो, वही आसन है। चाहे लेटकर करे या बैठकर करे, सदा ब्रह्मचिंतन ही हो। आठवाँ साधन देहसाम्य है। देह की समता क्या? समान परमात्मा में लीन होना ही देहसाम्य है। राजयोग में नासिका को या भौहों के बीच में देखना नहीं है।

नौवाँ साधन दृष्टि है। 'दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्' अर्थात् दृष्टि को ज्ञानमयी बना कर जगत् को ब्रह्ममय देखना चाहिए। खाण्ड के खिलौने खाण्ड रूप ही हैं। यह दृष्टि परम उदार है। नासिका की ओर देखने वाली दृष्टि ठीक नहीं! दसवाँ साधन मूलबन्ध है। 'यन्मूलं सर्वभूतानाम्'—जो सर्व भूतों



का मूल है और 'यन्मूलं चित्तबंधनम्'—जिस मूल में चित्त का बंधन होता है, उस परमात्मा रूपी मूलबन्ध का सेवन राजयोग में है। ग्यारहवाँ साधन प्राणायाम है। सारी मनोवृत्तियों का निरोध करना प्राणायाम है। राजयोग में सब पदार्थों में ब्रह्म की भावना करने से वृत्ति का निरोध होता है। बारहवाँ साधन प्रत्याहार है। एक लक्ष्य में मन लगाना प्रत्याहार है। राजयोग में सब पदार्थों में ब्रह्म की भावना कर उसमें मन को लीन करना प्रत्याहार है। नेत्र से विभिन्न पदार्थ दिखाई देते हैं, पर ज्ञान दृष्टि से सब ब्रह्म ही है। तेरहवाँ साधन धारणा है। किसी लक्ष्य में मन लगाना धारणा है, पर राजयोग में जहाँ-तहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म-दर्शन करना ही धारणा है।

सर्वत्र ब्रह्मदर्शन धारणा है। चौदहवाँ साधन ध्यान है। 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ—यह जो निराधार स्थिति है, वही राजयोग में ध्यान है। यह परम आनंद देने वाली वृत्ति है। 'कामिहि नारि पियारी जिमि, लोभी कंह प्रिय दाम।' कामी की स्त्री में, लोभी की पैसे में जैसी भावना होती है, वैसी अपने में तथा सब में ब्रह्म की भावना करनी चाहिये। राजयोग की निरंतर भावना 'मैं ब्रह्म हूँ' होती है। आनंदरूप परमात्मा में मन लगाने से आनंद की प्राप्ति होती है।

पन्द्रहवाँ साधन समाधि है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह वृत्ति निर्विकार रूप से विस्मरण हो जाय, वही समाधि है। इसमें आत्मा-परमात्मा

दोनों एक होते हैं, कुछ भी भेद नहीं रहता। जल में बर्फ मिलकर एक हो जाती है। जीव बर्फ है और परमात्मा जल है ऐसी समाधि वाला आवागमन से मुक्त होता है। गीता में कहा है—

'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।'

सिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा जन मेरे को प्राप्त होकर दुःख के स्थानरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार शिमला में ठण्डी ही ठण्डी है इसी प्रकार परमात्मा में आनंद ही आनंद है। परमात्मा को प्राप्त होने वाले ही उस आनंद का उपभोग कर सकते हैं।

ता० २–७–५०

छठे अध्याय के तेरहवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योग का उपदेश दिया है। आगे चौदहवें श्लोक में कहा है—

**'प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।**
**मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।'६.१४।।**

अर्थात् ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित रहता हुआ भयरहित तथा अच्छी प्रकार शांत मन वाला सावधान होकर मन को वश में कर मुझमें चित्त लगाकर मत्परायण हो।

मेरे में ही तत्पर हो, यह योग का ध्येय बताया है। यह ध्येय तभी सिद्ध हो सकता है, जब कि मन का निरोध करे। संसार में



लगा हुआ मन वहाँ से हटा कर परमात्मा में लगाना चाहिये। संसार में लगाने से मन बिगड़ता है। शास्त्र में कहा है कि मन की एकाग्रता बड़ा तप है। परमात्मा में मन लगाना बड़ा तप है। मन को रोकने के सात उपाय हैं।

पहला उपाय नियम है। पाँच बातों का नियम होना चाहिए। पहले तो ध्यान के स्थान का नियम होना चाहिये। प्रतिदिन एक ही स्थान पर, जो सुरक्षित तथा पवित्र हो, ध्यान लगाना चाहिये। उस स्थान पर दूसरा कोई जाने न पाये। दूसरे, प्रतिदिन नियत समय पर ही ध्यान लगाना चाहिये। समय के नियम से उस समय मन भजन की ओर जायगा। आसन का भी नियम होना चाहिये। दिशा का नियम हो। 'प्रातः काल पूर्व दिशा की ओर और सायं काल उत्तर दिशा की ओर मुँह कर ध्यान करना चाहिये। मंत्र का भी नियम हो। एक ही मंत्र का जप करते रहना चाहिये।

दूसरा उपाय मन की लहर के अनुसार न चलना है। बेबस मन मनुष्य का शत्रु है और वशीभूत मन मित्र है। मन चंचल है। उसके धोखे में न आये। सदा मन की निगरानी रखनी चाहिये। मन को बुराई से हटाकर भलाई में लगाने का अभ्यास करना चाहिये। तीसरा उपाय मन को सदा सत्कर्म में लगाये रखना है। मन को खाली नहीं रखना चाहिये। खाली मन शैतान का अड्डा होता है। मन निकम्मा कभी नहीं होता। मन भूत है। उसको

अच्छे कर्म में नहीं लगाया जायगा तो वह स्वयं बुराई की ओर जायगा। मन को पारमार्थिक कार्य में लगाये रखना चाहिये। चौथा उपाय एक तत्त्व का अभ्यास करना है। एक मूर्ति में ध्यान लगाना एक तत्त्व का अभ्यास करना है। मूर्ति के अंग प्रत्यंग को बहुत ही ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। मूर्ति को बार-बार देखने से मन पर छाप लग जायगी। फिर नेत्र बंद हो जाने पर वही वस्तु दिखाई देगी! मानसिक मंत्र को जप कर उसके सुनने में मन को लगाना चाहिये।

पाँचवाँ साधन मानसिक पूजा है। मानसिक पूजा से मन का निरोध होता है। मनोमयी मूर्ति की मन से काल्पनिक पूजा करनी चाहिये। एकान्त में आसन पर बैठे। नेत्र बन्द कर मनोमयी मूर्ति का मन से चिन्तन करे। फिर मूर्ति को काल्पनिक सुन्दर आसन पर विराजमान करे। फिर गंगाजल से स्नान, वस्त्र पहनाना, केशर, चन्दन, पुष्पमाला, धूप, दीप—यह सब काल्पनिक करे। नैवेद्य भी लगाना चाहिये। आचमन कराना चाहिये और फिर तांबूल देना चाहिए। फिर दक्षिणा, प्रदक्षिणा, नमस्कार—यह सब करना चाहिए। मानसिक पूजा में मन लग जाय तो इससे मन का निरोध होता है।

छठा साधन नाम-कीर्तन करे। इससे मन परमात्मा में स्थित होता है। नाम मुख से उच्चारण करना चाहिए और कान से सुनना चाहिए। इसका मन पर असर होता है। कभी रोता है



कभी हँसता है। इससे विकार दूर होते हैं और मन पवित्र होता है। सातवाँ उपाय सत्संग है। सत्संग से मन रुक जाता है। 'सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र।' सत्संग में सारे तीर्थों का निवास होता है। सत्संग में घर की चिन्ता उस समय के लिए दूर हो जाती है। श्रवण से पाप दूर होते हैं। अच्छे संस्कारों की प्राप्ति भी होती है। गन्दे संस्कार दूर होते हैं। सत्संग के बिना विवेक नहीं होता और विवेक के बिना कल्याण नहीं होता। सत्संग के प्रभाव से पापी भी पवित्र हो जाता है। भगवान् ने उद्धव से कहा है कि सत्संग से नीच योनि वाले भी भवसागर से पार हो जाते हैं। योग्यता के अनुसार उपर्युक्त सातों उपायों का अवलंबन करना चाहिये। देव मन्दिरों का निर्माण इसीलिए किया गया था कि लोग वहाँ मूर्ति का दर्शन करें और कथा-कीर्तन तथा सत्संग से लाभ उठाएँ।

एकाग्र का अर्थ मन एक के सम्मुख होना चाहिए। मूर्ति के अंग-प्रत्यंग देखने में मन रुक जाता है। सांसारिक विषय में मन एकाग्र होता है, पर वह एकाग्रता अनर्थकारी है। इसीलिये भगवान् ने कहा कि मन मुझमें लगाये। नाम स्मरण से भी मन की एकाग्रता होती है, प्राण का निरोध होता है और साँस कम चलते हैं। आयु का सम्बन्ध साँसों से है, दिनों से नहीं। साँस ज्यादा चलने से आयु घटती है और कम चलने से बढ़ती है, आगे समाधि अवस्था की प्राप्ति होती है। उससे यथावत् ज्ञान तथा

परम शांति की प्राप्ति होती है। माया के चक्र से परमात्मा ही छुड़ाता है, क्योंकि परमात्मा ही मायारहित है।

एक राजा था। उसके प्रधानमंत्री से कोई गलती हो गई। राजा ने मंत्री को जेल में तीन मंजिल के बिना छत वाले बुरुज पर बिठा दिये जाने की सजा दी। बुरुज पर सर्दी-गर्मी और बरसात से मंत्री को शारीरिक कष्ट हो—यही राजा का यह सजा देने का उद्देश्य था। बिना छत वाले बुरुज पर मंत्री को बड़ा कष्ट होने लगा। मंत्री की पत्नी बड़ी पतिव्रता थी। आधी रात को जेल में बुरुज के पास जाकर पत्नी ने मंत्री से पूछा—"मैं आपकी क्या सहायता करूँ?" मंत्री ने कहा—'कल इसी समय एक मोटा रस्सा, छोटी रस्सी, मोटा धागा, छोटा रेशमी धागा एक मकौड़ा और थोड़ा शहद लेती आना।' दूसरी रात को सब समान लेकर जब वह बुरुज के पास पहुँची, तब मंत्री ने कहा—"मकोड़े के सींग पर थोड़ा शहद लगाओ और पतला रेशमी धागा उसके पीछे बाँध दो और बुरुज पर मकौड़े को छोड़ दो। पत्नी ने वैसा ही किया। मकौड़ा शहद की खोज करते-करते ऊपर मंत्री के पास पहुँच गया। मंत्री ने मकौड़े को पकड़ लिया। और कहा—"अब रेशमी धागे को मोटा धागा बाँध दो।" पत्नी ने बाँधा। मंत्री ने रेशमी धागे से मोटे धागे को ऊपर खींच लिया। मंत्री ने फिर मोटे धागे को छोटी रस्सी बँधवाई और फिर छोटी रस्सी को मोटा रस्सा बंधवाया। मोटे रस्से को बुरुज के परनाले में बाँध कर



उसके सहारे मंत्री नीचे उतर आया और अपने घर जाकर आनंद को प्राप्त हुआ। विचार से मुक्ति होती है। जेल संसार है। तीन मंजिल का बुरुज कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल—ये तीन शरीर हैं। मंत्री जीव है। राजा अज्ञान है। अज्ञान ने जीव को तीन शरीरों का अभिमानी बनाया है। मंत्री की पत्नी विवेक बुद्धि है। मकौड़ा मन है। रेशमी धागा प्राण का निरोध है। पतला धागा सविकल्प समाधि है। छोटी रस्सी निर्विकल्प समाधि है। मोटा रस्सा ज्ञान है। ज्ञान से आनंद की प्राप्ति होती है।

ता० ३–७–५०

गीता के छठे अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

**युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।**
**शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।६.१५।।**

इस प्रकार मन को निरंतर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ स्वाधीन भावनावाला योगी मेरे में स्थिति रूप परमानन्द पराकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

सगुण साकार परमात्मा में ध्यान लगाने से एक तथा अद्वितीय परमात्मा का ज्ञान नहीं होता। सगुण साकार परमात्मा एकदेशीय है और निर्गुण निराकार सर्वदेशीय है। गीता में निराकार तथा निर्गुण का उपदेश है। निराकार में मन लगाने से ही काम

बनेगा। विवेक की दृष्टि से निराकार परमात्मा के दर्शन होते हैं। निराकार परमात्मा सब में व्याप्त है। जल, फेन, बुदबुदा इन सब में जल ही जल है। नामरूपात्मक जगत् ब्रह्ममय ही है। ज्ञानी का अनुभव कुछ ऐसा होता है--'किं करोमि क्व गच्छामि। किं गृह्णामि त्यजामि किम्।।' मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ, क्या ग्रहण करूँ और क्या त्याग करूँ? 'आत्मना पूरितं सर्वम्' सब ब्रह्म से ही व्याप्त है। सब में ब्रह्म ही भरपूर है। महाप्रलय में जिस प्रकार जल ही जल होता है, उसी प्रकार मेरे लिए तो अब सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। 'न तदस्ति न यत्राऽहम्'--ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसमें मैं नहीं हूँ। 'न तदस्ति न यन्मयि'--ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मुझमें नहीं हो। ऐसा होता है ब्रह्मज्ञानी का अनुभव। सुवर्ण का जेवर सुवर्ण ही होता है। खाण्ड के खिलौने खाण्ड ही तो है। उसी प्रकार परमात्मा से बना संसार परमात्मा ही तो है। 'विज्ञानं आनंदं ब्रह्म'--इस विचार से मनुष्य समाधि को प्राप्त होता है। समाधि से आनन्द की प्राप्ति होती है। खाण्ड की मधुरता का ज्ञान जीभ से चखने पर होता है। नेत्र से देखने और कान से सुनने से मधुरता का ज्ञान नहीं हो सकता। मधुरता की अनुभावक जीभ है। उसी प्रकार परमात्मा के आनन्द का अनुभावक निरुद्ध मन है। जिस मनुष्य का मन एक तथा अद्वितीय परब्रह्म में लीन होता है, उसका जन्म सफल है। उसकी जननी कृतार्थ है। सर्वव्यापक परमात्मा के दर्शन विवेक चक्षु से होते हैं।



संसार के प्रत्येक पदार्थ में पाँच अंश होते हैं--अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप। पुष्प में है-पना (अस्ति) है। पुष्प देखा जाता है, इसलिये उसमें देखना-पना (भाति) है, पुष्प प्रिय है, पुष्प का नाम और रूप भी है। अस्ति, भाति और प्रिय--ये पहले तीन ईश्वर-रूप हैं। नाम तथा रूप--ये दो जगद्रूप हैं। ब्रह्म कहते हैं व्यापक को। पहले तीन सब पदार्थों में हैं। नाम और रूप दोनों व्यभिचारी हैं। नामरूपात्मक जगत् विनाशी है। अस्ति भाति प्रिय अविनाशी हैं। गीता में कहा है--

'अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।'

अर्थात्--नाशरहित तो उसको जान कि जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। हैपना सबमें है। रोम-रोम में है। तीनों शरीरों में सत्तारूप से विराजमान हैं। परमात्मा का स्वरूप सच्चिदानंद है। परमात्मा सब में है तो उसके दर्शन क्यों नहीं होते? नियतमानस अर्थात् स्वाधीन मन वाले को ही दर्शन होते हैं। राग गाना और सत्तू खाना दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। संसार और परमात्मा दोनों को एक साथ नहीं देख सकते। संसार है, तो परमात्मा नहीं। और परमात्मा है, तो संसार नहीं। संसार के देखने का फल दुःख है और परमात्मा के देखने का फल आनंद है। सब शांति चाहते हैं, पर संसार में शांति नहीं है। शांति परमात्मा में है। भट्टी के पास बैठ कर कोई ठण्डी हवा चाहे, तो कैसे मिल सकती है! शिमला में जाओ तो ठण्डी ही ठण्डी है।

संसार तापत्रय का केन्द्र है, और परमात्मा शान्ति का केन्द्र है। नाम और रूप दोनों की अपेक्षा कर सदा समाधि में रहने से आनंद की प्राप्ति होती है। मन परमात्मा में लगाने को समाधि कहते हैं।

समाधि के दो भेद हैं--सविकल्प और निर्विकल्प। अल्पनिद्रा और गाढ निद्रा में जो भेद है, वही सविकल्प और निर्विकल्प समाधि में है। इन्हीं को सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। सविकल्प समाधि के दो भेद हैं--दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध। काम क्रोधादि इच्छाओं का जो पता लगता रहता है, उसका साक्षी जो चेतन है, उसका साक्षी रूप से ध्यान करने से दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि होती है। मैं सच्चिदानंद रूप हूँ, अद्वय हूँ--यह जो मन की भावना मानसिक शब्दों में प्रकट होती है, वह शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है। थोड़े से प्रयत्न से यह सब कोई कर सकते हैं।

सविकल्प समाधि से थोड़े आनंद का अनुभव होता है। उसी स्वानुभूत रस में मन लग जाता है, तो नामरूप का त्याग होकर निर्विकल्प समाधि होती है। निर्वात स्थान में दीपकवत् शांत तथा एकरस स्थिति होती है। फिर वह आनंदरूप ही हो जाता है। समाधि हृदय में भी होती है और बाहर भी। नाम रूप का त्याग कर अस्ति, भाति, प्रिय रूप से परमात्मा के दर्शन बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है। अखण्ड, एकरस परमात्मा सच्चिदानंद



है--यह जो निरंतर भावना है, यह बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है। निरंतर ईश्वर-भावना से आनंद के आवेश में मन जो स्तब्धीभाव को प्राप्त होता है, तब बाह्य निर्विकल्प समाधि होती है। छह प्रकार की समाधि से अपना जीवन बिताना चाहिए। फिर उत्थान काल में भी सर्वत्र परमात्मा के दर्शन होते हैं। जो मन में है, वही बाहर दृष्टि-गोचर होता है। परमात्मा के ज्ञान से देहाभिमान नष्ट हो जाने पर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ समाधि ही होती है। पक्षी आकाश में ही उड़ेगा। सब कुछ परमात्मा ही है, यह विचार दृढ हो जाने पर मन परमात्मा में ही विचरण करता रहता है।

संसार में तृप्ति कभी नहीं होती। भोग भोगने से भोग की वासना बढ़ती ही रहती है। न तृप्ति है और न शांति है। संसारी हमेशा भूखा ही रहता है। ज्ञानी तृप्त होता है। संसारी की समाधि जड समाधि होती है।

एक नट ने राजा को अपने खेल दिखाये। राजा ने प्रसन्न होकर कहा--'तुम जो कुछ माँगो, मैं तुम्हें दूँगा।' नट ने राजा का वह घोड़ा माँगा, जिस पर राजा सवारी करता था और जो राजा को बहुत ही प्यारा था। राजा घोड़ा नहीं देना चाहता था और अपने वचन की रक्षा भी करना चाहता था। इसलिये राजा ने कहा--'तुम समाधि लगा कर दिखाओ, तो तुम्हें घोड़ा दूँगा।' नट ने कहा--'मुझे चार महीने का समय दीजिए। मैं आपको

समाधि लगा कर दिखा दूँगा।' राजा ने स्वीकार किया। नट एक साधु के पास चार महीने में एक विशिष्ट नस दबा कर साँस चढ़ाने की युक्ति सीख आया। उसने राजा के बगीचे में एक छप्पर के नीचे राजा के सामने ही नस दबा कर साँस को ऊपर चढ़ा लिया। नट के प्राण ऊपर चढ़ गये। साँस की गति रुक गई। परन्तु नट साँस को उतारना नहीं जानता था। पचासों वर्ष बीत गये। राजा मर गया और घोड़ा भी मर गया, पर नट की समाधि नहीं उतरी। दूसरा राजा गद्दी पर बैठा। ऊपर की छत गिर पड़ने से नट के शरीर को जोर का धक्का लगा, जिससे उसकी समाधि खुल गई। समाधि खुलते ही नट जोर से चिल्लाया—'राजन् घोड़ा दीजिये।' यह जड समाधि है।

ता० ४–७–५०

गीता के छठे अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—इस प्रकार अपने मन को निरंतर परमात्मा में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी मेरे में स्थिति रूप परमानंद पराकाष्ठावाली शांति को प्राप्त होता है।'

दसवें से पन्द्रहवें श्लोक तक भगवान् ने योग का प्रतिपादन किया है। इनमें योग-अंग तथा आसन बताये हैं। अब आहार निद्रादि के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हैं।

**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।**
**न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।६.१६।।**



**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
**युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।६.१७।।**

योग का साधन करने वाला ज्यादा भोजन न करे और भूखा भी न रहे। ज्यादा सोने वाला और ज्यादा जागने वाला भी अभ्यास नहीं कर सकता। पेट के माप के अनुसार खाया हुआ अन्न योग के लिये ठीक है। ज्यादा खाया हुआ अन्न धातु की विषमता कर नष्ट कर देता है। कम खाना भी दुःख-दायक है। परिमित भोजन होना चाहिये। पेट के चार हिस्से बना लें। आधा हिस्सा भोजन से पूर्ण होना चाहिए। तीसरा हिस्सा जल से पूर्ण करना चाहिए। चौथा हिस्सा साँस के सरलतापूर्वक आने-जाने के लिये खाली रखना चाहिए।

ज्यादा सोता रहेगा, तो मनुष्य अभ्यास कब करेगा? ज्यादा जागता रहेगा तो ध्यान में आलस निद्रादि बाधक बनेंगे। भोजन सात्त्विक होना चाहिए। युक्त (संयत) आहार-विहार वाला, कर्मों में युक्त चेष्टा वाला, युक्त सोने-जगने वाला जो साधक होता है उसी का योग दुःख दूर करता है।

मन हमेशा विषयों में घूमता रहता है। घूमने वाले मन को परमात्मा में लगाने से आनंद की घंटी बजती है। मन में अनेक संकल्प उठते रहते हैं और उन्हीं में उलझकर मनुष्य अपना जीवन समाप्त कर देता है। मन हृदय देश में रहता है जो कमल पुष्प के आकार जैसा मांस का एक भाग है। उसमें आठ दल

(पंखडियाँ) हैं। उनपर रेखाएँ बनी हुई हैं। हृदय कमल के मध्य में जीवात्मा रहता है। जीवात्मा की उपाधि मन भी वहीं रहता है। जब हृदय कमल की रेखाओं पर मन आता है, तो संकल्प-विकल्प उठते हैं। जीवात्मा ज्योति-स्वरूप है, प्रकाशमान है और सूक्ष्म है। जीव में साक्षी रूप से परमात्मा भी विद्यमान है। वही सब कुछ करने वाला है। मन की उपाधि से जीवात्मा अपने को कर्त्ता भोक्ता मानता है। वह केवल मन के सम्बन्ध से कर्त्ता भोक्ता है। जीवात्मा और परमात्मा एक है। जब तक जीवात्मा के साथ मन का सम्बन्ध बना रहता है, तब तक आवागमन का चक्र भी चलता रहता है। मन से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर जीवात्मा आवागमन से मुक्त हो जाता है। समाधि काल में जीवात्मा का मन के साथ सम्बन्ध नहीं रहता।

हृदय कमल में आठ दल है। जब रेखा के ऊपर मन आता है, तो संकल्प उठते हैं। पूर्व दिशा के दल पर मन आता है, तो धर्म-कर्म के संकल्प होते हैं। जैसे ग्रामोफोन की चूड़ी में राग भरा होता है और सूई के घूमने से आवाज आती है।

आग्नेय दिशा के लाल वर्ण दल पर मन आता है, तो निद्रा आलस प्रमादादि आ घेरते हैं। दक्षिण दिशा के कृष्ण वर्ण दल पर मन आता है, तो ईर्ष्या द्वेषादि के भाव उत्पन्न होते हैं। नैऋत्य दिशा के नील वर्ण दल पर मन आता है, तो पापकर्म हिंसादि के बुरे भाव उत्पन्न होते हैं। अभ्यासी को सदा सावधान रहने की अनिवार्य आवश्यकता है। मन को रोका जायेगा, तो संकल्प बदल जायेगा। पुण्य कर्म करने में देरी नहीं करनी चाहिए और पाप कर्म करने में जल्दी भी नहीं करनी चाहिए। बुरे भाव को अच्छे भाव के द्वारा हटाना चाहिए। वसिष्ठ ने कहा है—'मन में बुरे संकल्प उठे तो अच्छे संकल्प से उनको काट देना चाहिए।

पश्चिम दिशा के स्फटिक वर्ण दल पर मन आ जाय, तो क्रीडा विनोद के संकल्प होते हैं। वायव्य दिशा के मणिक वर्ण दल पर मन आ जाता है, तो संसार के विषयों से वैराग्य हो जाता है और भक्ति के भाव उत्पन्न होते हैं। उत्तर के पीत वर्ण दल पर मन के आने से विषय सुख की इच्छा पैदा होती है। ईशान दिशा के वैदूर्यमणि वर्ण दल पर मन आ जाये, तो दया, दान, धर्म के संकल्प उठते हैं। अच्छे संकल्प का ध्यान रखना चाहिए और उनके अनुसार शीघ्र ही कार्य करना चाहिए। बुरे संकल्पों का त्याग करना चाहिए।

दो दलों के मध्य में जो संधि स्थान होता है, उसमें मन के जाने से वात पित्त कफ का रोग हो जाता है। दलों के मध्य भाग में मन जाता है, तो समाधिस्थ हो जाता है और उससे आनंद की प्राप्ति होती है। मन को मध्य भाग में चलाने का प्रयत्न करना चाहिए। थक कर मध्य में जाने से मन की निद्रावस्था होती है। दूसरी रेखा पर जाने से स्वप्नावस्था और सुषुप्ति होती है। सुषुप्ति में मन परमात्मा में लीन रहता है। उसको आनंद का

भान होता है। तीसरी रेखा पर तुरीयावस्था को प्राप्त होता है, समाधिस्थ हो जाता है। ध्यानबिंदु उपनिषद् में यह सब बताया गया है। अच्छे संकल्पों का ग्रहण करता हुआ निरुद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। तुरीयावस्था में परमात्मा में स्थिति होती है। जैसे सांसारिक मनुष्य की संसार में स्थिति होती है, वैसे योगाभ्यासी की परमात्मा में स्थिति हो जाती है। संसार में सुख शांति नहीं है। मन को परमात्मा में लगाना चाहिये। इसी से सर्वदुःखों से मुक्ति होगी। एक क्षण भर भी परमात्मा में मन की स्थिति हो जाय, तो उसको सब तीर्थों के जल में स्नान करने का, सारी पृथ्वी को दान करने का, हजारों यज्ञों के करने का, सब देवताओं के पूजन और पितरों का उद्धार करने का पुण्य प्राप्त होता है। वह तीनों लोकों में पूज्य होता है। देवता भी उसकी पूजा करते हैं।

सब बड़े बनना चाहते हैं। बड़े में मन लगाने से बड़ा बन सकता है। बड़ा कौन है? परमात्मा महान् से भी महान् है। उसमें मन लगाने से मनुष्य भी महान् बन सकता है। इससे संकल्प-पूर्ति भी होती है। इस मार्ग पर चलने वाले को सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इनका दुरुपयोग करने से प्रगति में बाधा उपस्थित होती है। शक्ति से बाहरी काम नहीं लेना चाहिए। चमत्कार दिखाने से शक्ति क्षीण हो जाती है। हजार रुपया पुण्य कर्म के लिये मिल जाय और उसको खानपान में या खेल तमाशे में खर्च कर दे, तो पुण्य कर्म करने के लिये पास में क्या रहेगा?



संपादित शक्ति से चमत्कार नहीं दिखाना चाहिए।

गंगा के किनारे एक महात्मा योगाभ्यास करते थे। उन्हें कई सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं। जैसा वह किसी को कहते वैसा ही हो जाता। परकाया प्रवेश की शक्ति भी उन्हें प्राप्त थी। जीर्ण शरीर छोड़कर दूसरे शरीर से योगाभ्यास करने की इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने अपना शरीर छोड़कर एक मृतक युवक राजा के शरीर में प्रवेश किया। राजा जीवित हो जाने से सबको खुशी हुई। राजा के शरीर में उनकी वृत्ति योग और भोग दोनों में बँट गई। वह हठयोगी थे, ज्ञानी नहीं। उन्होंने एक अन्नक्षेत्र खुलवाया और वह आने वाले साधुओं की बड़ी सेवा करने लगे। राजा का ऐश्वर्य प्राप्त होने से उनकी प्रवृत्ति भोग की तरफ हुई। इतने में एक अच्छे महात्मा अन्नक्षेत्र में आये और उनकी संगत से राजा के शरीरधारी महात्मा को यथावत् ज्ञान हो गया और वह कैवल्य को प्राप्त हो गया। भोग में लिप्त होने से शक्ति नष्ट होती है। विचार से काम लेना चाहिए।

ता० ५–७–५०

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।**
**निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।६.१७।।**

अर्थात्–'अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में

परमात्मा में ही भली प्रकार स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण कामनाओं से स्पृहारहित हुआ पुरुष 'योगयुक्त' ऐसा कहा जाता है।'

मन की दो अवस्थाएँ हैं—अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख। बालक जब खेल-कूद में लगा रहता है और पढ़ने नहीं जाता, तब तक बालक का मन बहिर्मुख कहा जाता है। स्कूल में जाने पर उसकी अन्तर्मुख अवस्था होती है। सांसारिक विषयों में घूमने वाला मन बहिर्मुख कहा जाता है। जब मन को सांसारिक विषयों से हटा कर परमात्मा में लगाया जाता है, तब मन अन्तर्मुख होता है। अन्तर्मुख मन कल्याण का हेतु है और बहिर्मुख मन दुर्गति का कारण है। जब मन 'आत्मन्येवावतिष्ठते'—परमात्मा में ही स्थित होता है, तब वह योगयुक्त हो जाता है। इससे परमनन्द की प्राप्ति होती है। मन की निरुद्ध अवस्था में आनंद का अनुभव होता है। विषयों से मलिन आनंद का अनुभव होता है। योगाभ्यास से निर्मल आनंद की प्राप्ति होती है। जिन्होंने सांसारिक भोग भोगने में कोई कसर नहीं उठा रखी, वे भी आखिर भोगों पर लात मार जंगल में जाकर तप करने लगे। उन्होंने खाने-पीने की परवाह नहीं की। उन्हीं को आनंद की प्राप्ति हुई। भोगी सुखपूर्वक नहीं रह सकता। वह सदा चिन्ता शोक में लगा रहता है।

महाराजा भर्तृहरि राज्य और परिवार छोड़कर जंगल में चले गये। योगानन्द के सामने भोगानन्द कुछ भी नहीं है। 'रसो वै सः' परमात्मा रसरूप, आनंदरूप है। मिश्री का स्वाद नीम के कीड़े को नहीं मिल सकता। भोगानंद क्षणिक, आभासरूप तथा दुःखरूप है। फटी हुई लंगोटी और जीर्ण गुदड़ी वाला योगी निश्चिंत रहता है। चिन्ता सुख में बाधक है। सुख से साध्य भोजन करने वाले को अर्थात् भिक्षान्न खाने वाले को आनंद मिलता है। उनकी शय्या श्मशान या वन में होती है। और वे सदा ब्रह्म-चिंतन में ही मग्न रहते हैं। उनके लिये मित्र और शत्रु दोनों समान हो जाते हैं। सुख में सुख नहीं और दुःख में दुःख नहीं होता। इस योगानन्द से ही राजा भर्तृहरि को शांति प्राप्त हुई, भोगानन्द से नहीं।



जब मन परमात्मा में स्थित होता है, तो परमात्मा का ही भान होता है। बहिर्मुख मन तो अनर्थ का हेतु है। मन बहिर्मुख क्यों? मन को अन्तर्मुख करने के लिये महान् प्रयत्न की आवश्यकता होती है, परन्तु बाहर तो वह स्वयं ही जाता है। जल को नीचे की ओर ले जाने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, क्योंकि जल स्वयं ही नीचे की ओर जाता है। परन्तु जल को ऊपर चढ़ाने के लिये बड़ा पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है। चारों ओर बिखरा हुआ मन बटोर कर परमात्मा में लगाना महान् पुरुषार्थ से ही हो सकता है। मन का बिखरना क्या? मोह, ममता, आसक्ति ही बिखरना है। मन की बहिर्मुखता का यही हेतु है। जब तक सांसारिक पदार्थों में मोह ममता तथा आसक्ति है तब तक मन

परमात्मा में नहीं लग सकता। अहंता तथा ममता का त्याग किये बिना मन परमात्मा में नहीं लगाया जा सकता। गीता में कहा है—'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।' पुत्र, स्त्री, घर और धनादि में आसक्ति का अभाव और ममता का न होना आत्म-ज्ञान के लिये आवश्यक है। मैं शरीर हूँ—यह भाव अहंता है। मैं शरीर नहीं हूँ, मन, बुद्धि, प्राण भी नहीं हूँ। घर का प्रकाशक दीपक जैसे घर से अलग है वैसे शरीर का प्रकाशक आत्मा शरीर से अलग है। मैं काला या गोरा हूँ, मोटा पतला हूँ—यह शरीर को ही मैं समझने का परिणाम है। शरीर जड है और आत्मा चेतन है। मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ। यह भाव दृढ होना चाहिए। अहंता से मनुष्य बीमारी से घबराता है और मृत्यु से डरता है।

'मरता आत्मा है नहीं, मरता केवल देह।
ऐसे मन में धार के तजो देह से नेह।।'

मनुष्य को बीमारी का ख्याल होता है, परमात्मा का नहीं। वैद्य के पीछे पड़ते हैं, पर परमात्मा को याद नहीं करते। आज तक कोई किसी का नहीं हुआ है। कोई किसी का होता तो मृत्यु से सम्बन्धविच्छेद क्यों होता? कच्चा सम्बन्ध है, वह टूट जाता है।

'द्वे पदे बंधमोक्षस्य निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते।।'

अर्थात् बन्धन और मोक्ष के कारण ममता और निर्ममता हैं। ममता से जीवात्मा बाँधा जाता है और निर्ममता से वह मुक्त



होता है। मीरा और सूरदास ने मोह ममता का त्याग कर ही परमात्मा को प्राप्त किया था। रुपया कोई छीन ले तो दुःख होता है, परन्तु स्वयं ही दान करे तो दुःख नहीं होता। देह में जो अभिमान है, वह छोड़ना चाहिए। देह में क्या है? अस्थि, मांस रुधिर, मज्जा, मल और मूत्र होता है। मल मूत्र में ममता नरक का कीड़ा करता है। ज्ञान के बिना मनुष्य पशु है। मुनीम जैसे मालिक का काम संभालता है और मालिक के नफा नुकसान में सुखी दुःखी नहीं होता, वैसे ही सब कुछ भगवान् का समझ कर और ममता-रहित होकर कर्तव्य पालन करे। मेरा कुछ नहीं है, सब भगवान् का है—इस भावना से बेड़ा पार होता है। वैराग्य राग-रसिक बनकर भक्तिनिष्ठ होना चाहिए। कोई कहते हैं कि कुटुम्ब बिना मन नहीं लगता। कुटुम्ब चाहिए। तो राजा भर्तृहरि जैसा कुटुम्ब बनाना चाहिए।

राजा भर्तृहरि राज्य छोड़कर वन में गये तो योगानंद में उनका मन समाहित हो गया। योगानंद की मस्ती अलग ही होती है।

'वाह वाह रे मौज फकीरों की।
कभी तो ओढे शाल दुशाला,
कभी तो गुदड़ी लीरों की।।
कभी तो खावे ठण्डे टुकड़े,
कभी तो थाली खीरों की।।
वाह वाह रे मौज फकीरों की।'

जिस वन में राजा भर्तृहरि योगानंद का मजा लूट रहे थे, उसी में एक दूसरा राजा—जो राजा भर्तृहरि को पहिचानता था, शिकार के लिये गया। राजा भर्तृहरि की फकीर अवस्था देखकर वह राजा भर्तृहरि से बोला—'तुम्हारी बड़ी दयनीय अवस्था हो गई। राज्य और कुटुम्ब को छोड़कर तुमने अच्छा नहीं किया।' राजा भर्तृहरि ने कहा—'दयनीय अवस्था मेरी नहीं है, तुम्हारी है। मैं तो अपने कुटुम्ब के साथ आनंद में हूँ। सब कुछ अन्दर है। मेरे कुटुम्ब में कभी कोई नहीं मरता। हमेशा कुटुम्ब साथ रहता है।' उस राजा ने पूछा—कौन-सा कुटुम्ब है तुम्हारा? यहाँ तो कोई नजर नहीं आता।' राजा भर्तृहरि ने कहा—

'धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी,
शान्तिः सदा गेहिनी।
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी,
भ्राता मनस्संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोपि वसनं,
ज्ञानामृतं भोजनम्।
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे,
कस्माद्भयं योगिनः।।'

अर्थात्—'जिसका पिता धैर्य है, माता क्षमा है, पत्नी शांति है, पुत्र सत्य है, बहन दया है, भाई निग्रह है, शय्या भूमि है, वस्त्र दिशाएँ हैं, भोजन ज्ञानामृत है—ऐसा जिसका परिवार है, उस योगी को किससे भय हो सकता है?" ऐसा परिवार मोक्षदाता होता है।



ता० ६-७-५०

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।**
**निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।६.१८।।**

प्रत्येक मनुष्य में चार इच्छाएँ प्रमुख तथा प्रबल हैं। पहली इच्छा यह होती है कि मैं सदा बना रहूँ, मेरी कभी मृत्यु न हो। दूसरी इच्छा होती है कि मैं सर्वज्ञ हो जाऊँ। मुझे सबका ज्ञान हो जाये। तीसरी इच्छा होती है कि मैं सर्वदा सुखी रहूँ। मुझे किसी तरह का दुःख प्राप्त न हो। चौथी इच्छा होती है कि मैं बड़ा और स्वतंत्र हो जाऊँ। मुझे किसी की आधीनता में न रहना पड़े। ये चार प्रकार की इच्छाएँ मनुष्यमात्र में हैं। इच्छाओं की निवृत्ति से शांति प्राप्त होती है। गीता में कहा है—

'तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे।
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।'

अर्थात्—जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष के प्रति सम्पूर्ण कामनाएँ किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाती हैं, वह परम शान्ति को प्राप्त होता है, न कि भोगों को चाहने वाला। कामनाओं के त्याग से शांति मिलती है। प्रवृत्ति से अशांति और

निवृत्ति से शांति होती है। शांति का हेतु कामना की निवृत्ति है। कामना की निवृत्ति के लिये महान् पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जब तक उपर्युक्त चार प्रकार की कामनाएँ मन में विद्यमान हैं, तब तक शांति नहीं मिल सकती। कामनाएँ पदार्थ की प्राप्ति से निवृत्ति हो जाती हैं। स्त्री, पुत्र, धन की प्राप्ति से कुछ कामनाएँ पूर्ण होती हैं। परंतु उपर्युक्त चार प्रकार की कामनाओं की निवृत्ति यहाँ हो ही नहीं सकती। पहली इच्छा है कि मैं सदा बना रहूँ, परन्तु शरीर नाशवान् है और वह सदा नहीं रह सकता। सांसारिक पदार्थ स्त्री, पुत्र, धन, राज्य की प्राप्ति से भी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती। रावण के एक लाख पुत्र और सवा लाख पोते थे, पर आखिर उसको भी जाना पड़ा। प्रकृति के नियम के विरुद्ध कोई बात नहीं हो सकती। ब्रह्मलोक सबसे बड़ा है परन्तु वह मिलने पर भी कोई सदा नहीं रह सकता। गीता में कहा है—

'आब्रह्मभुवनाल्लोकाःपुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।'

अर्थात्—हे अर्जुन, ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती (जिनको प्राप्त होकर फिर संसार में आना पड़े ऐसे) स्वभाव वाले हैं। परन्तु मेरे को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।

जो सदा रहने वाला है, उस परमात्मा की प्राप्ति से ही सदा रहने वाला हो सकता है। वेदों में कहा है—सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'—अर्थात् हे सौम्य, आरम्भ में यह एकमात्र



अद्वितीय सत् ही था। सत् परमात्मा है। सत् का अर्थ है सदा रहने वाला। परमात्मा की प्राप्ति के सिवाय सदा बने रहने का और कोई उपाय नहीं है। गीता में कहा है—

'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।'

अर्थात् नाशरहित तो उसको जान कि जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। उस अविनाशी का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है।

रावण साधन-सम्पन्न तथा शक्ति-सम्पन्न था। उसने वर भी माँगा था कि वह सदा बना रहे। 'नर वानर के सिवा किसी से भी न मरूँ।' यह उसने निश्चित कराया था। उसका भी सर्वथा नाश हो गया। युद्ध में जब रावण मरणोन्मुख अवस्था में पड़ा था तब भगवान् रामचन्द्र उसके पास गये और बोले—"क्या चाहते हो?" रावण राम को शत्रुता से भजने वाला भक्त था। रावण ने अपने दस मुखों से राम के दस नाम लेकर कहा—

'सीतापते दशरथात्मज देव देव।
राजीवलोचन विभो जगदेकनाथ।।
सत्यस्वरूप रघुनन्दन दिव्यमूर्त्ते।।
मा देहि राम जननीजठरे निवासम्।।'

अर्थात् हे राम, मुझे किसी माता के गर्भ में फिर कभी निवास न

करना पड़े, यही माँगता हूँ। जन्म से मुक्ति का अर्थ है परमात्मा की प्राप्ति।

दूसरी इच्छा होती है कि मैं सर्वज्ञ हो जाऊँ। पशु पक्षियों से मनुष्य में अधिक ज्ञान है, पर वह सर्वज्ञ नहीं, उसको देवताओं के पदार्थ का ज्ञान नहीं है। देवताओं से इन्द्र और इन्द्र से ब्रह्मा अधिक जानते हैं पर वे भी सर्वज्ञ नहीं हैं। ब्रह्मा को अपनी उत्पत्ति का ज्ञान नहीं है। बड़ा पद ब्रह्मा का है। उसमें भी सर्वज्ञता नहीं है। वेद में कहा है—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'—वह परमात्मा सर्वज्ञ है, सबको जानने वाला है। सर्वज्ञ परमात्मा की प्राप्ति से ही मनुष्य को सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। मनुष्य के संकल्प-विकल्प को, पुण्य-पाप को परमात्मा जानता है और इसीलिये वह फलदाता भी है। जहाँ संकल्प विकल्प उठते हैं, वहीं वह रहता है। गीता में कहा है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति।' अर्थात्—परमात्मा सब प्राणियों के हृदय में स्थित है।

तीसरी इच्छा है कि मैं सदा सुखी रहूँ। सांसारिक पदार्थ की प्राप्ति से मनुष्य सदा सुखी नहीं हो सकता। ये मायिक पदार्थ हमेशा नहीं रहते। इन्द्र और ब्रह्मा होने पर भी सदा सुख नहीं मिलता। कौशल्या ने राम से कहा है कि तुम मेरे उदर से पैदा हुए हो, फिर भी मुझे दुःख मिल रहा है। वेद में लिखा है—'विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म।' परमात्मा सच्चिदानंद है। वह आनंद-स्वरूप है।



वही आनंद का केन्द्र है। उसके आनंद के एक कण से ब्रह्मा भी सुखी होते हैं। जैसे खाण्ड से बनी हुई मिठाइयों की मिठास खाण्ड की ही है, वैसे ही परमात्मा से बने हुए जगत् का सुख भी परमात्मा के आनंद की एक बूंद मात्र है। परमात्मा की प्राप्ति से ही दुःख-निवृत्ति तथा शाश्वत आनंद की प्राप्ति होती है। समाधि काल का आनंद परमात्मा का ही होता है।

चौथी इच्छा होती है कि मैं सबसे बड़ा और स्वतंत्र बनूँ। सब बड़े होना चाहते हैं, स्वतंत्रता चाहते हैं। धन सौन्दर्य विद्या या शक्ति से कोई सबसे बड़ा नहीं हो सकता। दुनिया में एक से एक रूपवान्, धनवान्, विद्वान्, बलवान् विद्यमान हैं। ब्रह्मा भी बड़ा नहीं है, वह विष्णु को बड़ा मानते हैं, विष्णु शंकर को बड़ा मानते हैं। महाप्रलय में केवल शंकर रहते हैं। केवल परमात्मा ही बड़ा है।

'अणोरणीयान् महतो महीयान्' वह अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'। असीम सत्ता, असीम ज्ञान, असीम शक्ति, असीम आनंद परमात्मा में है। वही स्वतंत्र है। उसी की प्राप्ति से मनुष्य बड़ा और स्वतंत्र हो सकता है। परमात्मा की प्राप्ति से मनुष्य की चारों इच्छाएँ पूर्ण होती हैं।

परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो? ज्ञान से प्राप्ति होगी। ज्ञान का साधन ध्यान है। साकार के ध्यान से निराकार का ज्ञान होता है। वैराग्य से ही परमात्मा में मन लगेगा। १०५ डिग्री बुखार हो, तो

खीर मालपूडा अच्छा नहीं लगता। उन पदार्थों से वैराग्य हो जाता है। ऐसे ही सब सांसारिक पदार्थ से वैराग्य होना चाहिए। तभी मन परमात्मा में लगेगा। बड़ा कठिन मामला है। परमात्मा कठिनता से प्राप्त होता है। प्रयत्न करना चाहिए। परमात्मा में मन लगाना चाहिए। जैसे सिनेमा का शौक होता है, वैसे ही परमात्मा के भजन का शौक हो जाय तो बेड़ा पार है।

'जैसा चित्त हराम से वैसा हरि से होय।
तो चला जाय वैकुण्ठ को पल्ला न पकड़े कोय।।

ता० ७–७–५०

मानव जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य धर्मानुष्ठान है। धर्मानुष्ठान से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। धर्म सब मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला है। भगवान् को धर्म प्यारा है और इसलिये धर्मानुष्ठान करने वाला भी प्रिय है। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं–

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।'

अर्थात्–हे भारत, जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् अवतार धारण करता हूँ।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्म ही निराकार तथा



निर्गुण परमात्मा को सगुण तथा साकार रूप धारण कराता है। धर्म ही परमात्मा को साकार रूप में इस संसार में प्रकट कराता है। आगे कहा है–

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।'

अर्थात्–साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिये और दुष्टों का नाश करने के लिये तथा धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में अवतार धारण करता हूँ। धर्मात्माओं की रक्षा के लिये परमात्मा आते हैं। धर्म भगवान् को प्यारा है। सत्ययुग में धर्मात्मा प्रह्लाद की रक्षा के लिये भगवान् नृसिंह-रूप में स्तम्भ से प्रकट हुए और धर्मद्रोही हिरण्यकश्यप को उन्होंने मार डाला। त्रेता युग में भगवान् रामचन्द्र ने धर्मद्रोही रावण को मारकर धर्मात्मा विभीषण की रक्षा की। परमात्मा एक का रक्षक है, तो दूसरे का नाशक है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान् में किसी तरह का राग या द्वेष है! गीता में भगवान् ने कहा है–'समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।' मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ। मेरा न कोई प्रिय है और न अप्रिय है।

डॉक्टर फोड़े का ऑपरेशन करने के लिये पैर काटता है। डॉक्टर को फोड़े वाले से कोई द्वेष नहीं होता, प्रत्युत फोड़े वाले की भलाई के लिये ही डॉक्टर पैर काटता है। दुष्ट रूपी फोड़े का ऑपरेशन भगवान् करते हैं। द्वापर में भगवान् श्रीकृष्ण हुए।

पाण्डव धर्मात्मा थे और कौरव धर्मद्रोही थे। भगवान् श्रीकृष्ण ने कौरवों को मरवा कर पाण्डवों की रक्षा की। धर्मानुष्ठान करने वाला धर्मात्मा ही भगवान् को प्रिय है। धर्म से ही भगवान् मिलते हैं, धन से नहीं। धन धर्म-कार्य में खर्च करे तो धन से धर्म-संग्रह होता रहता है, अन्यथा धन परमात्मा की प्राप्ति में बाधक ही बनता है।

'अर्ब खर्ब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
बिना भक्ति भगवंत की, सभी नरक का साज।।'

धर्म सुखदायक है। कणाद मुनि ने कहा है—'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'—जिससे लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति होती है, वह धर्म है। लौकिक उन्नति में भोगों की प्राप्ति का भी अन्तर्भाव होता है। भोग और मोक्ष दोनों धर्म द्वारा ही प्राप्त होते हैं। भूखे को भोजन से तृप्ति होगी। प्यासे को पानी से ही तृप्ति होगी। उसी प्रकार संसार के दुःखों की निवृत्ति धर्म से होगी।

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।'

पुण्य कर्मों का फल सुख है। सुख सभी चाहते हैं, परंतु पुण्य कर्म करना नहीं चाहते। पाप का फल दुःख है। कोई भी दुःख नहीं चाहता, परन्तु मनुष्य पाप प्रयत्नपूर्वक करते हैं। संसार में कोई सुखी नहीं है, सब दुःखी हैं। धनी भी अपने को दुःखी मानते हैं। 'बोया बीज बबूल का आम कहाँ से खाय?'



सावित्री ने पतिव्रता धर्म के पालन से अपने मृतक पति सत्यवान् को भी जिन्दा कर दिया। हरिश्चन्द्र ने सब कुछ छोड़ा। राज्य छोड़ा, पुत्र छोड़ा, पत्नी को बेचा और स्वयं चाण्डाल के घर नौकरी की, पर उसने धर्म को नहीं छोड़ा। धर्म साधन से राज्य मिला, पुत्र मिला, स्त्री मिली और भगवान् के दर्शन भी मिले। राजा शिवि ने धर्मरक्षा के लिए अपने शरीर का मांस देकर भी शरण आये कबूतर की जान बचाई। सब देवताओं ने उसको दर्शन दिये। यह हिन्दू संस्कृति है। राणा प्रताप ने भी अपने धर्म का पालन किया और खोये हुये राज्य को प्राप्त किया।

'अनित्याणि शरीराणि'—शरीर नाशवान् है। इसलिए 'कर्तव्यो धर्मसंग्रहः' धर्मसंग्रह करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। धर्म-कर्म करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये। नहीं जानते कि कब क्या होगा। कहा है—

'खबर नहीं घड़ी एक की, नहीं पलक की आस।
क्या जाने कल सुबह में, कहाँ होगा वास।।'

पंजाबी लोग पंजाब में बड़े सुखी थे पर आज उन्हें शरणार्थी बनना पड़ा है। रहने को घर भी नहीं मिल रहे हैं। मृत्यु सदा निकट होती है। वसुदेव ने कंस से कहा है कि जन्म के साथ ही मृत्यु भी जन्म लेती है। धर्म का पालन करना चाहिये। धर्म से धन घटता नहीं है। गौ का दूध, वाटिका का पुष्प, विद्या, कुएँ का

जल और धन—यह सब दान करने से ही बढ़ते रहते हैं और दान न करने से इनका नाश होता है। परलोक में धर्म ही साथ जाता है 'धर्मस्तमनुगच्छति।' लक्ष्मी चंचल है, यौवन बरसात की बाढ़ की तरह है। आयु जल के बुदबुदे की तरह है। जीवन फेन की तरह है। ऐसी अवस्था में जो धर्म का आचरण नहीं करता, वह अन्त में पश्चात्ताप कर शोकाग्नि में जलता है।

सामवेद में धर्म के तीन अङ्ग बताये हैं—यज्ञ, स्वाध्याय और दान। गीता में कहा है—

'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।'

अर्थात् यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं है, प्रत्युत वह निःसंदेह करना कर्तव्य है। यज्ञ, दान और तप ही बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। पवित्रता की प्राप्ति से ही मनुष्य भगवान् की प्राप्ति का अधिकारी होता है।

एक समय देवता, दानव और मानव ब्रह्मा के पास गये और उनसे उपदेश की याचना की। ब्रह्मा ने तीनों को ही द-द-द का उपदेश दिया। ब्रह्मा ने देवताओं से पूछा—"तुमको मैंने केवल 'द' कह कर उपदेश दिया। तुम क्या समझे?" देवताओं ने कहा—हमने 'द' से दमन का, इन्द्रिय दमन का उपदेश ग्रहण किया। दानवों ने कहा "हमने 'द' से दया का उपदेश ग्रहण किया।" मानवों ने कहा "हमने 'द' से दान का उपदेश प्राप्त



किया।" गृहस्थी में अनेक पाप होते रहते हैं। दान से पाप-निवृत्ति होती रहती है। गीता में कहा है—

'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।'

कर्तव्य समझ कर जो दान देश काल और पात्र को प्राप्त होने पर दिया जाता है, वह दान सात्त्विक है। सात्त्विक दान अनन्त गुण फल देता है।

एक समय रुक्मिणी ने भगवान् कृष्ण से पूछा—"कौरवों की सभा में द्रौपदी को नङ्गा किया जा रहा था, उस समय आपने वस्त्र रूप बन कर द्रौपदी की लाज बचाई। द्रौपदी के किस पुण्य कर्म से यह चमत्कार हुआ।" भगवान् बोले—दुर्वासा ऋषि गंगा में स्नान कर रहे थे। पानी के बहाव से उनकी लंगोटी बह गई। लज्जा के मारे बहुत देर तक वह पानी में ही खड़े रहे, ऊपर की ओर द्रौपदी स्नान कर रही थी। दासी से सही बात द्रौपदी को मालूम हो गई। द्रौपदी ने एक हाथ साड़ी का टुकड़ा फाड़ कर जल में बहा दिया। वह हाथ-भर वस्त्र दुर्वासा को मिला। उसको पहन कर दुर्वासा बाहर आये और सूर्य नारायण को अर्घ्य देते हुये बोले—"जिसने मेरी लज्जा की रक्षा की, समय पर उसकी लज्जा की तुम रक्षा करना।" इसी से मैंने वस्त्र रूप बन कर द्रौपदी की लाज बचाई।

ता० ८–७–५०

भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।**
**निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।६.१८।।**

जो मन को सांसारिक विषय से हटा कर परमात्मा में लगाता है, उसको योगारूढ कहा जाता है। जीवात्मा का संसार से सम्बन्ध कराने वाली कामना होती है। मन कामना से निवृत्त होने पर परमात्मा की प्राप्ति होती है। कामना से आवागमन के चक्र में घूमना पड़ता है। इसमें न तो सुख है और न शांति है। गीता के नौवें अध्याय में भगवान् ने कहा है–

'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्टवा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान्।।'

अर्थात्–"तीनों वेदों में विधान किये हुए सकाम कर्मों को करने वाले, सोमरस को पीने वाले और पापों से पवित्र हुए पुरुष मुझे यज्ञों के द्वारा पूज कर स्वर्ग की प्राप्ति को चाहते हैं। वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं।" स्वर्ग में अमृत, विमान, कल्पवृक्ष, कामधेनु आदि हैं, जिनसे विशेष सुख प्राप्त होता है। परन्तु परिणाम क्या? आगे के श्लोक में कहा है–



'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।

अर्थात्–"वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म के शरण और भोगों की कामना वाले पुरुष बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं।" सकाम कर्म जन्म-मरण के चक्र में घुमाता है। निष्काम कर्म से परमात्मा की प्राप्ति होती है। गीता में कहा है–

'विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।'

अर्थात्–जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममत्वरहित, अहंकार-रहित और स्पृहा-रहित हुआ बर्तता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है। भट्टी के पास गर्मी मिलेगी। ठंडी हवा शिमला में मिलेगी।

कामना, तृष्णा या इच्छा अन्दर की चीज है, मनोवृत्ति है। और यह मनोवृत्ति बन्धन-कारक है। कामना की निवृत्ति कैसे हो? यह एक सूक्ष्म विषय है। गीता में कहा है–

'धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।'

जैसे धुएँ से अग्नि, मल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका

रहता है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है। कामना से आवृत मन परमात्मा के पास नहीं पहुँचता। कामना की चार अवस्थाएँ हैं—सूक्ष्म, स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम। पृथ्वी में बीज वृक्ष की सूक्ष्म अवस्था है, अंकुर स्थूल, पत्ते स्थूलतर और फल स्थूलतम अवस्था है। कामना की सूक्ष्म अवस्था संस्कार दशा है। जैसे डिब्बी से कपूर निकाल लेने पर भी डिब्बी से कपूर की सुगंध आती रहती है, क्योंकि कपूर के सूक्ष्म परमाणु उसमें रह जाते हैं। उसी तरह कामना अन्तःकरण में सूक्ष्म रूप से होती है। यह संस्कार दशा है। कामना की स्थूल अवस्था स्मरण दशा है इसमें विषय का स्मरण हो आता है। कामना की स्थूलतर अवस्था चिन्त्यमान दशा है। इसमें विषय का बार-बार चिन्तन होता है। कामना की स्थूलतम चौथी अवस्था भुज्यमान दशा है। इसमें कामना से प्रेरित होकर विषय-भोग किया जाता है। चौथी अवस्था अनर्थकर है। कामना विषय के साथ मिला देती है। आजकल सहशिक्षा की प्रथा है। युवक-युवतियाँ एकत्रित होकर पढ़ते हैं। जाति-पाँति का विचार किये बिना कामना से प्रेरित होकर चाहे जिससे प्रेम और विवाह किये जा रहे हैं। अपने ही वर्ण में रोटी-बेटी व्यवहार होना चाहिये। यह भारतीय संस्कृति है, पाश्चात्य संस्कृति नहीं। वर्ण-व्यवस्था के उल्लङ्घन से महान् अनर्थ होता है। सहभोज की प्रथा भी चल पड़ी है। अर्जुन कहता है—"युद्ध से कुल की विधवा स्त्रियाँ



दूषित होंगी। उनसे वर्णसंकर पैदा होंगे और वर्णसंकर कुल को नरक में ले जाने वाले होते हैं।" भगवान् ने गीता में कहा है—

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।'

अर्थात्—"जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छा से बर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न परम गति को और न सुख को ही।"

कामना के अधीन नहीं होना चाहिये। शरीर काम के लिए नहीं, राम के लिए है। कामना को हटाने का उपाय क्या? कामना एक मनोवृत्ति है। कामना के मूल को ही नष्ट करना चाहिये। एक विचारशील कहता है:—'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।' अर्थात्—"हे काम! मैं तेरे मूल को जानता हूँ। तू संकल्प से पैदा होता है।"

वशिष्ठ ने कहा है—'संकल्पेनैव संकल्पम्'—संकल्प से ही संकल्प का नाश करना चाहिये। अच्छे संकल्प से बुरे संकल्प को हटाना चाहिये। मन में पहले संकल्प-विकल्प होता है। मन किसी विषय-भोग को अच्छा समझता है, तो उस पर विचार करना चाहिये कि वह अच्छा क्यों? फिर पता चल जायेगा कि वह अच्छा है या बुरा। सिनेमा देखने का संकल्प हो जाय तो विचार करना चाहिये कि क्या सिनेमा देखना अच्छा है? सिनेमा देखने

में २.३० घंटे लग जायेंगे। आने जाने का समय अलग। एक साँस का मूल्य यह सारा जगत् नहीं हो सकता। समय का खर्च, पैसे का खर्च आँखें खराब, बुद्धि भ्रष्ट, बुरे संस्कारों की प्राप्ति, पाप—यह सब सिनेमा देखने से होगा। विष मिला हुआ लड्डू भी मीठा लगता है, परन्तु परिणाम क्या? विष का पता लगने से खाने को जी नहीं चाहता। दोष-दृष्टि से बुरे संकल्प को हटाया जा सकता है। दो इन्द्रियाँ प्रबल हैं—जीभ और उपस्थ। स्वाद और भोग दोनों से अनर्थ होता है। होटल का खाना अच्छा लगता है, फिर पवित्रता का विचार नहीं रहता। चमड़ी का रंग रूप अच्छा है तो फिर चाहे जिस जाति से विवाह सम्बन्ध किया जाता है। यह विचार नहीं रहता कि वर्णसंकरता नरक में पहुँचाने वाली है।

एक राजकुमार एक साहूकार की लड़की पर आसक्त हो गया। राजा ने साहूकार से कहा—"तुम अपनी लड़की का विवाह राजकुमार से करो।" साहूकार चिन्तित हो गया, क्योंकि जाति अलग थी। लड़की ने पिता से पूछा—"आप उदास क्यों?' साहूकार ने सारा हाल बताया। लड़की ने कहा—"आप चिन्ता न करें। मुझे देखने के लिए आने का दिन नियत कीजिये।" दिन नियत किया गया। लड़की ने उस दिन जमालगोटे का जुलाब लिया और दिन भर आठ दस कुण्डों में दस्त करती रही। उन कुण्डों को रेशमी रुमाल से ढक दिया। अत्यधिक दस्तों से लड़की



कुरुप-सी हो गई। राजकुमार आया। लड़की ने कहा—"मुझे चाहते हो तो मैं तो ऐसी हूँ। और यदि मेरे रूप को चाहते हैं, तो कुण्डों में जाकर देखिये।" राजकुमार ने रेशमी कपड़ा उठा कर कुण्डों में देखा, तो घृणा हो गई।

ता० ११-७-५०

गीता के छठे अध्याय के अठारहवें श्लोक में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि सब कामनाओं से निःस्पृह होने से मन की परमात्मा में स्थिति होती है। सकाम मन अशुद्ध होता है और निष्काम मन शुद्ध होता है। निष्काम मन ही परमात्मा में स्थित होता है। अनेक जन्म व्यतीत हो गये परन्तु आज तक कामना की तृप्ति नहीं मिली। आगे भी इसकी तृप्ति नहीं होगी, ऐसा विचार करना चाहिये। विषयोपभोग करने से कामना की वृद्धि ही होती है, तृप्ति नहीं। आग में घी डालने से आग भभक उठती है, शान्त नहीं होती। कामना शत्रु तथा व्याधि के रूप में है।

'नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति कोपसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम्।।'

काम के समान व्याधि नहीं है। मोह के समान शत्रु नहीं है। क्रोध के समान अग्नि नहीं है और ज्ञान से बढ़कर सुख नहीं है। 'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्' आशा ही परम दुःख है और आशा-रहित होना परम सुख है। वसिष्ठ राम से कहते

हैं—"इच्छा का उदय होना एक ऐसा दुःख है कि वैसा दुःख नरक में भी नहीं है। इच्छा-निवृत्ति से जो सुख होता है, वैसा ब्रह्मलोक में भी नहीं प्राप्त होता। इच्छा महा अनर्थ का हेतु है। कामना नष्ट हो जाय तो मनुष्य परमेश्वर रूप हो जाय। निष्काम होना ही मोक्ष है और सकाम होना ही बंधन है। इसलिये यथाशक्ति कामना को नष्ट करना चाहिए। हे राम, जैसे-जैसे कामना बढ़ती है वैसे-वैसे दुःख, चिन्ता शोक भी बढ़ते हैं। विवेक से जैसे कामना की निवृत्ति होगी वैसे-वैसे दुःख की भी निवृत्ति होती रहेगी।"

सब चाहते हैं कि सुख और शान्ति मिले। जब तक तृष्णा है, तब तक सुख और शान्ति कहाँ? वसिष्ठ कहते हैं—'हे राम! जो मनुष्य कामना को कम करने का प्रयत्न नहीं करता, वह नराधम है। वह अपने आपको अन्धकूप में डालता है। इसलिये कामना का निरोध करना चाहिए। भगवान् शंकराचार्य ने भी यही बात कही है—

'बद्धो हि को यो विषयानुरागी
को वा विमुक्तः विषये विरक्तः।
कोवाऽस्ति घोरो नरकस्स्वदेहः।
तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति।'

'विषय में राग रखने वाला ही कर्म से बँधा हुआ है और जो विषयों से विरक्त है, वह मुक्त है। अपना शरीर ही घोर नरक



है और कामना का विनाश ही स्वर्गपद है। इससे बढ़कर स्वर्गपद और क्या हो सकता है?'

लोग शारीरिक शक्ति तथा सौन्दर्य पर बड़ा अभिमान करते हैं। अकड़ कर चलते हैं, परन्तु शरीर क्या है? शंकराचार्य कहते हैं—

'इदं शरीरं कृमिजालसंकुलं
स्वभावदुर्गन्धमशौचमध्रुवम्।
रुजायुतं मूत्रपुरीषभाजनम्
रमन्ति मूढा न रमन्ति पण्डिताः।।'

यह शरीर कीड़ों का घर है, कीड़ों से भरा हुआ है। यह स्वभाव से ही दुर्गन्ध-युक्त, अपवित्र तथा अनित्य है। यह सब प्रकार के रोगों का घर है और मलमूत्र का बर्तन है। मूर्ख ही इससे प्रेम करते हैं, पण्डित नहीं।

कामना की निवृत्ति कैसे हो? बहुत से संत महात्माओं ने और ऋषि मुनियों ने कामना की निवृत्ति में सफलता प्राप्त की है। कामना की निवृत्ति दुस्साध्य अवश्य है, परन्तु असाध्य नहीं है। दूसरे इस मार्ग पर चलें या न चलें, परन्तु मनुष्य को अपनी भलाई का विचार करना चाहिए और यथाशक्ति कामना को कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। बड़ा मनुष्य भी कामना से प्रेरित होकर किसी से कुछ माँगने जाता है, तो उसको छोटा माना जाता है। कामना अनर्थकारी है। भगवान् विष्णु जैसे भी जब माँगने के

लिये बलि के दरवाजे पर गये तो छोटा वामन रूप धारण कर गये।

'तृष्णे देवि नमस्तुभ्यं धैर्य-विध्वंस-कारिणी।
विष्णुस्त्रैलोक्यपूज्योऽपि स त्वया वामनी कृतः।।'

देवी तृष्णे! तुझे दूर से ही नमस्कार है। तू धैर्य का नाश करने वाली है। विष्णु तीनों लोकों में पूज्य थे परंतु तूने उनको भी वामन (छोटा) बनाया। तृष्णा का नाश करना ही होगा। सिवाय इसके परमशांति को प्राप्त होने का और कोई उपाय नहीं है।

राजा भर्तृहरि राज्य छोड़कर जंगल में चले गये। उन्होंने कहा—"हे तृष्णे! अब यहाँ तो तू मेरा पिण्ड छोड़ दे। तेरे कारण अनेक विषम देशों में घूमता रहा, जाति कुलादि का त्याग किया। दूसरों के घरों में संकोच के साथ खाता रहा, परंतु पल्ले कुछ भी नहीं पड़ा।" विचार के बिना कामना का त्याग नहीं हो सकता। मनुष्य को सोचना चाहिए कि जो कुछ भाग्य में होगा, वही होगा। भाग्यानुसार जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में संतोष करना चाहिए। कर्म के कमण्डल को कूप, तालाब, नदी, या समुद्र—चाहे जिसमें भरिये, पानी उसमें उतना ही आयेगा, जितना कि वह है।

'तू कछु और विचारत है नर
तेरो विचार धरयो हि रहैगो।
कोटि उपाय करे धन के हित
भाग लिखो तितनो हि लहैगो।
भोर कि सांझु घड़ी पल मांझसु
काल अचानक आई गहैगो।
राम भज्यो न किये कछु सुकृत
सुन्दर यों पछताई रहैगो।।'



जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह सौ रुपया चाहता है। सौ वाला हजार, हजार वाला लक्ष, लक्षाधीश राज्य, राजा चक्रवर्ती पद, चक्रवर्ती स्वर्ग, स्वर्ग का इन्द्र ब्रह्मा के पद को, ब्रह्मा विष्णुपद को और विष्णु शिवपद को चाहते हैं। तृष्णा की कोई सीमा नहीं है। उसकी सीमा को वही पार करता है जो कामनाओं से निस्पृह होता है।

तृष्णा से रात को नींद नहीं आती। पलंग है, पंखा है, सब तरह का आराम है, पर नींद नहीं आती। 'चिन्तातुराणां न सुखन्न निद्रा'। चिन्तित व्यक्ति को न सुख मिलता है और न नींद आती है। मानव शरीर परमात्मा की प्राप्ति के लिये है, तृष्णा के लिये नहीं। तृष्णा से नारद का बंदर जैसा मुँह हो गया। रावण का कुल-सहित नाश तृष्णा से हुआ। कौरवों का नाश भी तृष्णा से हुआ। निर्मल चन्द्रमा में कलंक लगाने वाली तृष्णा ही है। राजा नहुष को इन्द्र पद से नीचे गिराकर सर्प बनाने वाली तृष्णा ही थी। मन जैसा काम की तरफ जाता है, वैसा राम की

ओर जाय तो बेड़ा पार हो जाय।

नदी के किनारे एक मल्लाह रहता था। मछली बेचकर वह जीवन-निर्वाह करता था। एक दिन जाल में एक भी मछली नहीं फँसी। घर में खाने को कुछ भी न था। मल्लाह ने वरुण की प्रार्थना की—"भगवन् ऐसा होता रहा तो मैं जीवन-निर्वाह कैसे करूँगा? मुझ पर दया कीजिये।" वरुण देवता प्रकट हुए। मल्लाह ने कहा—"भगवन्! मन भर अन्न की ढेरी चाहिए। वरुण ने कहा—"तथास्तु!" घर में अन्न की ढेरी देखकर मल्लाह की स्त्री ने पूछा तो मल्लाह ने बताया कि वरुण देवता ने दी। स्त्री ने कहा—'जाओ अपनी झोपड़ी को वरुण से मकान बनवा लो।' मल्लाह ने फिर वरुण से मकान के लिये प्रार्थना की। वरुण के वरदान से झोपड़ी का मकान हो गया। स्त्री ने कहा—"वरुण तुम्हारी बात मानता है। मकान से आलीशान कोठी बनवा लो, जिसमें सब सामान और नौकर भी हो।" मल्लाह ने कोठी के लिये प्रार्थना की। मकान आलीशान कोठी में परिणत हो गया। स्त्री ने कहा—"राज्य माँगो।" राज्य भी मिला। स्त्री ने कहा—"चक्रवर्ती राज्य माँगो जिससे हम स्वतंत्र हो जायें।" चक्रवर्ती राज्य भी मिला। स्त्री सवेरे देर से उठती थी। उसके मुँह पर सूर्य की धूप पड़ी। स्त्री ने कहा—"तुम वरुण से यह माँगो कि सूर्य चन्द्र हमारी आज्ञानुसार चले।" मल्लाह ने वरुण से यही माँगा। वरुण क्रोधित होकर बोले—"इतना दिया, फिर भी संतोष



नहीं। अब देतवाओं पर भी अधिकार चाहते हो। मैं शाप देता हूँ कि सब जल कर भस्म हो जाये।" सब जलकर राख हो गया। अति सर्वत्र वर्जयेत्।

ता० १२–७–५०

गीता के छठे अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।**
**योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।६.१९।।**

आत्म-समाधि में तत्पर संयतचेता योगी के चित्त की उपमा उस दीप से दी जाती है जो वायु-रहित स्थान में रखा होने से हिलता नहीं।

चित्त सर्वथा सत्त्वगुण-सम्पन्न हो जाता है, तब उसकी परमात्मा में स्थिति होती है। मन पाँच तत्त्वों के सत्त्वगुण से बना है पर यह संस्कारों के अनुसार रजोगुणी और तमोगुणी भी होता है। जब मन परमात्मा में लग जाता है, तो इसका तमोगुण और रजोगुण निकल जाता है। मानव शरीर योग के लिये प्राप्त हुआ है, भोग के लिये नहीं। चौरासी लाख योनियों में से ८३ लाख ९९ हजार ९९९ योनियाँ भोगों के लिये हैं। केवल मानव शरीर ही ऐसा है, जिसमें चौरासी लक्ष योनियों के आवागमन से मुक्त होकर परमानन्द की प्राप्ति की जा सकती है। जो मनुष्य परमात्मा में

मन नहीं लगाता, उसका जन्म व्यर्थ ही समझना चाहिए। शुकदेव ने कहा है—परमात्मा का चिन्तन मन और वाणी द्वारा नहीं हो सकता। वह भरण-पोषण करने वाला है। वह ज्ञानमय और चिदानंद है। चेतनरूप से वह सबका आत्मा है। जिस मनुष्य ने क्षणमात्र भी मन परमात्मा में नहीं लगाया, उसका जीवन व्यर्थ ही जाता है। विषयों का ध्यान करने वाले की कभी उन्नति नहीं होगी। गीता में कहा है—

'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।'

इसमें भगवान् ने बताया है कि विषय का ध्यान करने से विषय के साथ लगाव हो जाता है। लगाव होने से उस विषय का भोग करने की कामना पैदा होती है। कामना में विघ्न उपस्थित होने से क्रोध पैदा होता है। क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृति-नाश, स्मृति-नाश से बुद्धिनाश, और बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वथा पतन होता है।

व्यास ने कहा—

'आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणस्सदा।।'



सब शास्त्रों का मंथन करने और बार-बार विचार करने से यही बात निकल आती है कि परमात्मा सदा ध्यान करने योग्य है।

शास्त्रों के आदेश और मन से झुकाव में बड़ा अन्तर है। मन विषयों की ओर जाता है। उसमें न तो सुख है और न शांति है। क्षणिक माया है। आजकल अनन्त शरीर मिलें, परन्तु परमात्मा का ध्यान नहीं किया। किसी भक्त ने कहा है कि परमात्मा के चरण कमल का आश्रय लेने से भवपाश की हानि होती है। संसार के शोक चिन्ता दुःखादि फाँसी ही है। घर वाले इस फाँसी से मुक्त नहीं कर सकते। वे तो फाँसी को और मजबूत बनाते हैं। केवल परमात्मा ही इस फाँसी से छुड़ा सकते हैं ठंडी की निवृत्ति अग्नि की शरण लेने से होगी। संसार रूपी फाँसी की निवृत्ति भगवद्भजन से होगी। शास्त्रों ने यह बात अन्वय-व्यतिरेक से समझाई है। भगवान् की शरण लेने से ही दुःखनिवृत्ति होगी। और कोई उपाय नहीं है। जैसे सूर्य के बिना रात्रि की निवृत्ति नहीं होती, वैसे ही ईश्वर-भजन के सिवाय दुःख-निवृत्ति नहीं हो सकती।

परमात्मा के ध्यान में पहले मन न लगे, तो भी उनका नाम स्मरण करना चाहिए। संसार की तरफ जाने वाला बहिर्मुख पापी मन का शोधक भगवन्नाम है। वाल्मीकि और अजामिल जैसे पापी भी नामस्मरण से शुद्ध हो गये। मन संसार के खड्डे में गिरा

रहा है। शास्त्र के वचन उस खड्डे से निकालना चाहते हैं। कुएँ में गिरा हुआ जैसे रस्सी पकड़ कर ऊपर आता है, वैसे संसार के अन्धकूप से ऊपर आने के लिये परमात्मा का नाम ही रस्सी के समान है। नाम का अवलंबन करना चाहिए।

नौका पार करती है, परंतु उसमें छेद हो जाय और छेद से उसमें पानी भर जाय तो वही नौका डुबाती भी है। संसार समुद्र है। इसमें विषय जल है। मन रूपी नौका में विषय जल भरने से वह डूब जायेगी। मन रूपी नौका में विषय जल नहीं भरने पायेगा तो नौका पार हो जायेगी। मन ही पार कराने वाला है, और मन ही डुबाने वाला है। एक भक्त अपने मन से कहता है—

'रे चित्त चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः
पारङ्गमिष्यसि यतो भवसागरस्य।
पुत्रः कलत्रमितरे न हि ते सहायाः
सर्वं विलोकय सखे मृगतृष्णिकाभम्।।'

रे मन! तू भगवान् के चरणों का सदा चिन्तन कर जिससे तू भव सागर के पार हो जायेगा। पुत्र, स्त्री और दूसरे कुटुम्बी तेरे सहायक नहीं हैं। इन सबको तू मृगतृष्णा जल के समान समझ। जैसे सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं, वैसा ही प्रयत्न परमात्मा की प्राप्ति के लिये किया जाय, तो संसार सागर से बेड़ा पार हो जाय। पतवार के बिना नौका नहीं चलेगी।

पतवार से नौका को चाहे जिधर ले जा सकते हैं। हमारा



लक्ष्य क्या है, धन कमाना नहीं है। सर्प और भूत भी धन के मालिक होते हैं। ईश्वर-प्राप्ति ही हमारा लक्ष्य है। परमात्मा के ध्यान के अभ्यास का एक क्रम है और वह प्रयत्न से साध्य है। एकान्त में इन्द्रियों का निरोध करना चाहिए। मन के निरोध का कारण इन्द्रिय-निरोध है। मन के बाहर निकलने की नाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय हैं—शब्द स्पर्श, रूप, रस, और गंध। इन विषयों की ओर इन्द्रियों द्वारा आकर्षित होकर मन बहिर्मुखी बनता है। नल की टोंटी बंद करने से पानी बाहर नहीं आता। इन्द्रिय रूपी टोंटी बंद करने से मन रूपी जल बाहर नहीं जा सकता, इससे विषय वासना विलीन हो जाती है। फिर ईश्वरीय आनन्द का अनुभव होता है। भजन के बिना मन रुकता नहीं है। भजन से मन रुकता है। मिठाई खाते समय उस पर मक्खियाँ भी आ बैठती हैं। परन्तु मक्खियों के भय से कोई मिठाई खाना स्थगित नहीं करता। भजन में विघ्न उपस्थित होते ही हैं, पर उससे घबराना नहीं चाहिए।

विशेष भजन में छह बातें होती हैं। पहली बात यह है कि जिस मंत्र का जप किया जाता है, उसका अर्थ जानना चाहिए। अर्थ जानने से मंत्र जप से विशेष फल प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि भजन सकाम न हो। निष्काम भाव से भजन करना चाहिए। तीसरी बात यह है कि भजन के समय शरीर बार-बार पुलकित हो उठना चाहिए। भोजन के समय जैसे मन प्रफुल्ल

होता है, वैसे ही भजन के समय भी होना चाहिए। मन पूरी तरह लग जाय, तो वह भजन में प्रसन्न होता है। चौथी बात यह विश्वास रखना है कि भजन से मुझे परमात्मा का आनंद प्राप्त होकर रहेगा। आनंद-प्राप्ति की भावना प्रबल होनी चाहिए। विश्वास से ही फल प्राप्त होता है। पाँचवीं बात नियमपूर्वक भजन करना है। नियत समय पर भजन करना ही चाहिए। नियम पालन में बड़ी शक्ति होती है। नियमपूर्वक औषधि सेवन से रोग-निवृत्ति होती है। औषधि सेवन का कोई नियम न हो तो वह फायदा नहीं पहुँचाती। वैद्य के कथनानुसार चलने से ही फायदा होता है। छठी बात भजन को गुप्त रखना है। अपने भजन की किसी से चर्चा नहीं करनी चाहिए। भजन और भोजन दोनों होने गुप्त चाहिए। भजन का चमत्कार या आनंद किसी से नहीं कहना चाहिए। भजन में कभी-कभी प्रकाश ज्योति या देवता के दर्शन होते हैं। विभिन्न प्रकार के शब्द भी सुनाई देते हैं। जो देखते हैं या सुनते हैं, उसकी चर्चा किसी से न करे। बात को प्रकट कर देने से देखना या सुनना बंद हो जायेगा।

यथाशक्ति भजन करने का प्रयत्न करना चाहिए। भजन से ही उद्धार होगा। मानव शरीर को केवल भोग भोगने में ही नष्ट नहीं कर देना चाहिए।



ता० १३–७–५०

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं:–

**यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।**
**यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।६.२०।।**

योग के अनुष्ठान से निरुद्ध चित्त उपरामता को प्राप्त होता है। जब परिपाक होकर चित्त निश्चल होता है, तब निर्मल अन्तःकरण में साक्षी चैतन्य को ब्रह्मरूप से देखता हुआ योगी सन्तुष्ट होता है, कृतार्थ होता है। आत्मा को ब्रह्मरूप से देखने वाला योगी ही यथार्थ देखता है। वेदों के महावाक्य आत्मा और परमात्मा की एकता को घोषित करते हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म'—मनोवृत्तियों का साक्षी रूप अनुभूय आत्मा ब्रह्म है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म'—मनोवृत्ति का प्रकाशक ज्ञान ही ब्रह्म है।

'यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा सर्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्।।'

जो परब्रह्म है, वह सबका अन्तरात्मा है, सर्व जगत् का अधिष्ठान है। जैसे सिनेमा का आधार चादर है, वैसे जगत् का आधार ब्रह्म है। इसलिये वह बड़ा है। सारा जगत् उसके एक अंश में स्थित है। गीता में कहा है–'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।' अर्थात्–मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ। शरीर में छोटे से तिल की तरह

परमात्मा में यह जगत् है। वह महान् से महान् है। यह शंका हो सकती है कि इतना बड़ा है तो फिर परमात्मा दिखाई क्यों नहीं देता? उत्तर यह है कि वह महान् से महान् होने पर भी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। पृथ्वी से जल सूक्ष्म है, जल से अग्नि सूक्ष्म है, अग्नि से वायु, वायु से आकाश, आकाश से माया और माया से भी सूक्ष्म परमात्मा है। इसलिये वह इन्द्रियों का विषय नहीं है।

मनुष्य में जीवभाव भ्रान्ति से है, ब्रह्मभाव ही यथार्थ है। राजा रात को स्वप्न देखता है कि वह रंक है। स्वप्न का रंकभाव भ्रान्ति से है, राजा-भाव ही यथार्थ है। आत्मा शुद्ध परमेश्वररूप है। वेद में कहा है कि एक ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं है। 'वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा। ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।।' जीव और जगत् भी ब्रह्म ही है। रस्सी को भ्रम से साँप समझा जाता है। साँप की कल्पना भ्रान्ति है। रस्सी ही यथार्थ है। जीव और जगत् भ्रान्ति से हैं। यथार्थ में एक और अद्वितीय ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है। इसी ब्रह्म-भावना में स्थित होने से आवागमन बन्द होता है।

एक ही परमात्मा उपाधि-भेद से त्रिधा हो जाता है। परमात्मा का प्रथम स्वरूप निर्गुण है। दूसरा सगुण स्वरूप है और तीसरा साकार स्वरूप है। एक के ही तीन स्वरूप हैं। अवस्था में भेद है, अवस्था वाले में नहीं हैं। गुरुकुल में पढ़ने वाला अविवाहित लड़का ब्रह्मचारी कहलाता है और संतान उत्पन्न हो जाने पर वही



पिता कहलाता है। माया-रहित परमात्मा निगुर्ण होता है, माया-सहित सगुण होता है और अवतार रूप से साकार होता है। माया से परे का परमात्मा निर्गुण है। माया-सहित हो जाने पर 'स द्वितीयमैच्छत्' —उसने दूसरे के संग की कामना की। यह माया-विशिष्ट परमात्मा है। आदि काल में जीवों के कर्मफल उन्मुख होते हैं, इसलिये परमात्मा रचना करता है। वही शरीरादि को बना कर उनमें जीवरूप से प्रवेश करता है। शरीराकार भी वही होता है। दिव्य शरीरों में वही राम कृष्णादि बन जाता है। जल तत्त्व एक ही है, पर वह ठंडी से बर्फ बनता है और धूप से फिर जल बन जाता है। विचार काल में जीव और जगत् नहीं रहते। अविचार से संसार है। विचार से सब कुछ परमात्मा ही है।

नीम वृक्ष का बीज एक होता है। उसमें कोई विभाग नहीं होता। वही बीज भूमि और जल से मिलता है—यह निर्गुण बीज का सगुण स्वरूप है। फिर उसमें अंकुर, शाखा, पत्ते, फल निकल आते हैं। यह बीज का तीसरा स्वरूप है। बीज परमात्मा है, भूमि माया और जल जीव-संस्कार हैं। वृक्ष संसार है। गीता में कहा है—'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' अर्थात्—संसार रूपी वृक्ष की जड ऊपर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं।

हलवाई पहले केवल खांड लेता है। फिर वह जल और अग्नि की सहायता से खांड के खिलौने बनाता है। जल और अग्नि से सम्बन्ध हो जाना—यह खांड की दूसरी अवस्था है। जल और

अग्नि के बिना खांड के खिलौने नहीं बन सकते। खांड परमात्मा है, जल और अग्नि का संयोग माया है और खांड के खिलौने संसार है। खिलौने यद्यपि अनेक रूप से प्रतीत होते हैं पर वे सब खांड ही खांड है।

तीसरा दृष्टान्त लीजिये। स्वर्ण निर्विकार है। सुनार सुवर्ण में सुहागा डालकर और अग्नि में तपा कर उससे विभिन्न प्रकार के जेवर बनाता है। सुवर्ण परमात्मा है। अग्नि से उसका संयोग माया है। विभिन्न जेवर संसार है। जेवर सुवर्ण ही है। उसी प्रकार परमात्मा से उत्पन्न जगत् परमेश्वर-रूप ही है। नीम का बीज कटु होता है। उसका अंकुर भी कटु होता है और उसके पत्ते-पत्ते में कटुता होती है। बीज की कटुता वृक्ष के सब हिस्सों में विद्यमान रहती है। परमात्मा आनन्दरूप है। वेदों में कहा है—'रसो वै सः'—वह रसरूप है अर्थात् आनन्दरूप है। माया में भी चिदानन्दरूप में परमात्मा है और संसार में भी चिदानन्दरूप में परमात्मा ही है। अस्ति, भाति, प्रिय रूप से परमात्मा संसार में विद्यमान, व्यापक तथा परिपूर्ण है। खांड का स्वरूप माधुर्य है। जल से मिलने पर भी उसमें माधुर्य और उससे बने हुए खिलौनों में भी माधुर्य होता है। सुवर्ण का स्वरूप पीलापन है। अग्नि से संयोग होने पर भी उसमें पीलापन होता है और उससे बने हुए जेवरों में भी पीलापन होता है।

युक्ति से परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। फिर नज़र क्यों नहीं



आता? यह भावना और बुद्धि का प्रश्न है। जगदाकार बुद्धि में परमेश्वराकार बुद्धि नहीं होगी। विचार से परमेश्वर का ही भान होगा। जो जानता है कि खिलौने खांड के हैं, परन्तु वह भी जब तक जीभ नहीं लगायेगा तब तक मिठास का अनुभव नहीं होगा। शुद्ध मन परमात्मा में लगाने से ईश्वरीय आनन्द का अनुभव होगा। बहिर्मुख मन को यह आनन्द नहीं मिल सकता। शरीर में आत्म-बुद्धि का त्याग करना होगा और परमात्मा में ही आत्मबुद्धि करनी होगी। शरीर में अहंबुद्धि अविचार का परिणाम है। आत्मा शरीर से भिन्न है। आत्मा परमात्मा है, इसीलिए परमात्मा में ही अहंबुद्धि करनी चाहिये। अहं मनुष्यः—मैं मनुष्य हूँ, इस भावना को हटा कर अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ—यह भावना करनी चाहिये। परमात्मा में अहंबुद्धि करने से ही काम बनेगा। 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' एक ही परमेश्वर सबको वश में रखने वाला सर्व भूतों का आत्मा है। रामायण में गोस्वामी जी ने भी कहा है—

'सिया-राममय सब जग जानी।
करेऊँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।'

धीर पुरुष ही उस सर्वान्तर्यामी परमात्मा को अंतःकरण में देखते हैं और उन्हीं को परमानन्द की प्राप्ति होती है।

मानव शरीर योग के लिए मिला है, भोग के लिए नहीं। सुख का केन्द्र परमात्मा है, संसार नहीं। चिन्तामणि को कोई काँच के

मूल्य से बेच दे तो उसको मूर्ख ही कहा जायेगा। मानव शरीर प्राप्त कर यथाशक्ति प्रभु का भजन करना चाहिये।

ता० १४–७–५०

योग के अनुष्ठान से निरुद्ध हुआ चित्त जब शांत हो जाता है, उस अवस्था को योग समझना चाहिये। तब योगी निर्मल अन्तःकरण में साक्षी चैतन्य को ब्रह्म रूप से देखता हुआ परमानन्द तथा परमशांति को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में विषयानन्द का सर्वथा त्याग हो जाता है और केवल ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। अपने यथार्थ स्वरूप को जानने से ही जीव परम शांति को प्राप्त होता है। भगवान् ने गीता में कहा है–

**सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।**
**वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।६.२१।।**

बुद्धि की केवल शुद्ध-भावापत्ति की दशा में ब्रह्मनिष्ठ को उस सुख का अनुभव होता है। वह सुख केवल आत्माकार वृत्ति से ही अनुभव-गम्य है। वह स्वरूपानन्द है। विषयानन्द कल्पित है, आभास है, झूठ है। शीशे में दिखाई देने वाला मुख आभास है, कल्पित है। वह यथार्थ नहीं है। परमेश्वर आनन्दस्वरूप है। बुद्धि की परिपाक अवस्था में उस आनन्द का अनुभव होता है। समाधि-काल में जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आत्मा का आनन्द है। समाधि का आनन्द आत्यन्तिक है। उसका अन्त



नहीं है। वह बुद्धिग्राह्य होने से इन्द्रियों का अविषय है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा अगम्य है। विषय-सुख क्षणिक तथा आदि और अन्त वाला है। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि यदि तू परमानन्द चाहता है, तो मन मुझमें लगा। जिसको आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है, उसको विषयानन्द से घृणा हो जाती है। समाधि काल का आनन्द विषय-सुख से विलक्षण है। उसको छोड़कर कौन विचारशील पुरुष विषय-सुख में रमण करेगा? संसारासक्त पुरुष को विचारशील नहीं कहा जा सकता। पूर्णिमा का चन्द्रमा छोड़कर चित्र का चन्द्रमा कौन देखना चाहेगा? संसार के पदार्थ परमानन्द रस से शून्य हैं। सपने में चाहे जितनी मिठाई खाओ, जागने पर भूख ज्यों की त्यों बनी रहेगी। विषय-सुख से न तो तृप्ति होती है और न दुःखहानि ही होती है। समाधि काल में अद्वय आनन्द से ज्ञानी तृप्त हो जाता है। इसीलिये परमात्मा में स्थित होने का उपदेश दिया गया है। धनादि पदार्थ सम्पत्ति नहीं है, प्रत्युत विपत्ति है।

'संपदो नैव संपदः विपदो नैव विपदः।
विपद् विस्मरणं विष्णोः संपन्नारायणस्मृतिः।।'

सम्पत्ति वास्तव में सम्पत्ति नहीं है और विपत्ति वास्तव में विपत्ति नहीं। भगवान् को भूल जाना ही विपत्ति है और भगवान् को याद करना ही सम्पत्ति है। जब तक मनुष्य परमात्मा को भूला रहेगा, तब तक आवागमन होता ही रहेगा, दुःख-निवृत्ति

नहीं होगी। धनवान् बनना चाहते हैं, तो नारायण का स्मरण करना चाहिये। इस धन को चोर डाकुओं का भय नहीं है। संसार के पदार्थ में मन लगाने से दुःख ही दुःख है। परमात्मा में मन लगाने से आनन्द ही आनंद है। भगवान् ने गीता में कहा है—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।'

अर्थात्—"जो इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, तो भी वे निःसंदेह दुःख के ही हेतु हैं और आदि अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिए हे अर्जुन, बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।" सब भोग दुःखों के कारण हैं। अविवेकी पुरुष ही संसारासक्त होता है। अविवेकी नहीं होना चाहिये। 'ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानः' —ज्ञान के बिना मनुष्य पशु के समान ही है। संसारासक्ति की अपनी गलती को समझना चाहिये और उस पर विचार करना चाहिये। हिसाब की गलती का तो फौरन पता चल जाता है, परन्तु उस गलती की ओर ध्यान नहीं है, जिसमें सारा जीवन ही व्यर्थ हुआ जा रहा है। विषय-सुख में फँसने से सारा जीवन नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। संसार के त्याग में आनन्द है, राग में नहीं। दोष दृष्टि से विषयों का त्याग करना चाहिये। इनमें सुख शान्ति नहीं है। धन की प्राप्ति के लिए चाहे जो प्रयत्न किया जाता है, परन्तु परमात्मा की ओर बिलकुल ध्यान नहीं है।



एक योगी ने दूसरे महान् योगी से पूछा—'आप कब से योगारूढ हुए हैं?' महान् योगी ने उत्तर दिया—"दस कल्प बीत चुके हैं, तब से मैं योग में स्थित हूँ।" योगी ने कहा—'दस कल्प से आप हैं? तब तो आपने बहुत कुछ देखा होगा? कृपया बताइये, आपने क्या-क्या देखा?' उस महान् योगी ने कहा—"मैंने विशेष कुछ भी नहीं देखा। केवल एक बात देखी है।" योगी ने पूछा—"वह क्या?" उस महान् योगी ने उत्तर में कहा—

'जन्म दुःखं जरा दुःखं दुःखं मृत्युः पुनः पुनः।
संसारमंडलम् दुःखं पच्यन्ते यत्र जन्तवः।।'

"जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु का बार-बार दुःख ही संसार है। सारा संसार दुःखरूप है जहाँ जीवों को काल की कढ़ाई में बार-बार पकाया जा रहा है। हाँ, मैंने केवल यही देखा और कुछ नहीं।"

संसार दुःखमय है। यहाँ सुख का क्षणिक आभास मात्र है, सच्चा सुख नहीं है। और यहाँ दुःख तो बात-बात में है। दुःख में सुख और शान्ति कहाँ? यह विचार की बात है।

एक राजा ने दूसरे राजा पर चढ़ाई कर उसको मार डाला और उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। विजयी राजा चाहता था कि उसका राज्य निष्कण्टक हो इसलिए राजा ने इस बात की खोज की कि मृतक राजा का कोई निकट सम्बन्धी जीवित है या नहीं? खोज से पता चला कि मृतक राजा का एक भाई विरक्त बनकर श्मशान में रहता है। राजा ने सोचा कि फकीर से राज्य

को कोई खतरा नहीं हो सकता। फिर भी उसको बस में कर लेना सुरक्षितता की दृष्टि से ठीक होगा। यह सोचकर राजा उस विरक्त पुरुष से मिला और बोला—"कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" साधु पुरुष ने उत्तर दिया—"सेवा की कोई आवश्यकता नहीं है।" राजा ने कहा—"मुझे आपका बहुत ख्याल है। मैं आपको दस गाँव देता हूँ।" साधु ने कहा—"गाँव लेकर मैं क्या करूँगा? यदि आप देना चाहते हैं तो चार चीजें दीजिये।" राजा ने कहा "माँगो।" साधु ने कहा—"जीवन ऐसा हो जिसमें मृत्यु न हो, जवानी ऐसी हो जिसमें बुढ़ापा न हो, खुशी ऐसी हो जिसमें रंज न हो और सुख ऐसा हो जिसमें दुःख न हो। बस यही चार चीजें हैं।" राजा ने कहा—"यह तो कोई नहीं दे सकता।" साधु ने कहा—"फिर मैं गाँव या राज्य भी लेकर क्या करूँगा? मैं तो तुम जैसे राजाओं को नरक के कीड़े समझता हूँ।" साधु के विचारों द्वारा राजा पर बड़ा प्रभाव पड़ा और राज्य छोड़ कर साधु का शिष्य हो गया।

ता० १५–७–५०

परमात्मा आनन्दस्वरूप है। आत्मा परमात्मा का अंश होने से वह भी आनन्दस्वरूप है। यदि आत्मा आनन्दमय है तो हमेशा आनन्द का अनुभव क्यों नहीं होता? यह प्रश्न है। योगियों का अनुभव भी आत्मा को आनन्दस्वरूप बताता है। फिर सदा आनन्द का अनुभव क्यों नहीं होता? सार यह है कि आनन्द का



अनुभव होने में कुछ बाधा है। इस बाधा को दूर किया जाय तो सदा आनन्द का अनुभव होता रहेगा। बाधा क्या? आनन्द का अनुभव होने में चार दोष बाधक होते हैं। चार दोष हैं—लय दोष, विक्षेप दोष, कषाय दोष और रसास्वाद दोष। इन चार दोषों में से एक भी दोष विद्यमान होगा, तो आनन्द का अनुभव सदा नहीं होगा। चारों ही दोष विद्यमान हों तो फिर कहना ही क्या?

परमात्मा में मन लगाने को योग कहते हैं। जैसे खांड से जीभ लगाने पर ही मिठास का अनुभव होता है, वैसे परमात्मा में मन स्थित हो जाने पर ही आनन्द का अनुभव होता है। परमात्मा में मन लगाना योग है। और विषय में मन लगाना भोग है। जब परमात्मा का ध्यान करने बैठते हैं, तो लय दोष उपस्थित होता है अर्थात् निद्रा आती है। निद्रा में लीन होने से आनन्द का अनुभव नहीं होगा। निद्रा न आये तो दूसरा, विक्षेप दोष मन को एकाग्र नहीं होने देता। ध्यान में जो विषय चिन्तन बीच में होने लगता है, उसी को विक्षेप दोष कहते हैं। इससे मन अस्थिर होता है और अस्थिर मन परमात्मा में लग नहीं सकता।

तीसरा कषाय दोष मन की कुण्ठित अवस्था मूढ या जड अवस्था है। मन की रोगी अवस्था में भी आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। चौथा रसास्वाद दोष—अर्थात् ध्यान में कुछ-कुछ आनन्द का अनुभव करना। कुछ आनन्द का अनुभव होने का अर्थ है त्रिपुटी का विद्यमान होना। इससे त्रिपुटी बनी ही रहेगी।

वास्तविक आनन्द की उपलब्धि के लिए त्रिपुटी के नाश की अनिवार्य आवश्यकता है। जब तक त्रिपुटी विद्यमान है, तब तक जो आनन्द का अनुभव होता है, वह आभासरूप आनन्द है, यथार्थ नहीं। जल में प्रतिबिम्ब आभास है, यथार्थ नहीं। समाधि से पहले जो आनन्द का अनुभव होता है वह आनन्द का आभास होता है। उपर्युक्त चार दोषों को हटा दिये जाने के पश्चात् ही परमात्मा के वास्तविक आनन्द का अनुभव होगा।

श्री गौडपादाचार्य कहते हैं—"निद्रा में लीन चित्त को जागृत करना चाहिये। फिर विक्षेप दोष अर्थात् विषय चिंतन का जो दोष है, उसको हटाने के लिए विक्षिप्त मन का निरोध करना चाहिये अर्थात् मन को परमात्मा में लगाना चाहिये। तीसरा कषाय दोष-अर्थात् मन की मूढ अवस्था विषयों में सूक्ष्म राग होने से होती है। कषाय दोष को जान कर सावधान होना चाहिये और मन पूर्णतया भगवद्चिंतन में लगाना चाहिये।

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि निद्रा और समाधि का भेद कैसे मालूम हो? सीधे बैठ कर और सीधी गर्दन कर ध्यान किया जाता है। समाधि में गर्दन सीधी रहती है और निद्रा से वह झुक जाती है। इससे निद्रा और समाधि का अन्तर समझ में आ जायेगा।

चौथा रसास्वाद दोष है, जो यथार्थ आनन्द के अनुभव में बाधक है। उस अवस्था में आनन्द का आस्वाद न करे। समझना



चाहिये कि यह आनन्द आभास रूप है, वास्तविक नहीं। इससे निर्विकल्प समाधि नहीं होगी और सविकल्प समाधि ही बनी रहेगी। आभास में तृप्ति नहीं है। इसलिये रसास्वाद करने वाली बुद्धि को निस्संग करना चाहिये। इससे निर्विकल्प समाधि हो जायेगी और वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होगी। वह आनन्द में विलीन हो जायेगा। वह आनन्दमय हो जाता है।

अब इस बात को दृष्टान्त से समझिये। कोई जल के किनारे खड़ा है। उसको जल में अपना प्रतिबिम्ब दीखता है। प्रतिबिम्ब दीखने में जो बाधाएँ हो सकती हैं वे भी उपर्युक्त चार प्रकार की ही हैं। पहला लय दोष है—यदि जल जमीन में विलीन हो जाय तो प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देगा। दूसरा विक्षेप दोष—जल हिलता रहेगा तो भी जल में मुख नहीं दिखाई देगा। तीसरा कषाय दोष—जल बर्फ बन जाय तो बर्फ में मुख दिखाई नहीं देगा। चौथा रसास्वाद दोष—प्रतिबिम्ब दिखाई देगा, परन्तु उसी प्रतिबिम्ब को अपना सही मुख मान लेगा तो बड़ी गलती होगी। प्रतिबिम्ब तो आभास है, सच्चा नहीं।

ध्यान काल में आनन्द के आभास का अनुभव होता है, उसको वास्तविक आनन्द नहीं समझना चाहिये। उस आनन्द के आभास का त्याग करने के बाद ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होगी। इसीलिये भगवान् ने कहा है कि बुद्धि की परिपाक अवस्था में बुद्धिग्राह्य आत्यन्तिक आनन्द का अनुभव होता है।

फिर वह चलायमान नहीं होता। उसका विषयों से राग नहीं होता है और इससे वह विषयों में आसक्त नहीं होता। फिर भजन से जन्म सफल होता है। धन, परिवार, विद्या, गुण—इनसे जन्म सफल नहीं होता। मन परमात्मा में जब तक नहीं लगाया जायेगा, तब तक वास्तविक आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। भोग तो सब योनियों में होता है, परन्तु योग की साधना केवल मनुष्य जन्म में ही हो सकती है।

यह शंका की जाती है कि निश्चिन्त होकर परमात्मा में मन लगायेंगे तो घर का काम बिगड़ जायेगा! परन्तु यह भी सोचने की बात है कि केवल घर के कामों में लगे रहने से मनुष्य जन्म ही बिगड़ जाता है, व्यर्थ हो जाता है। मनुष्य शरीर घर संभालने के लिये नहीं मिला है, प्रत्युत आवागमन के दुःख से सदा के लिये मुक्त होने को मिला है। संसार तो बिगड़ा ही है, वह सुधर नहीं सकता। कोयला सफेद नहीं बन सकता। आत्म-कल्याण को ही सुधार समझना चाहिये। मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता। योगी भर्तृहरि ने कहा है—

'आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्द्धं गतम्
तस्यार्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्व-वृद्धत्वयोः।।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते।
जीवे वारितरंग-चंचलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्।।'

मनुष्य की आयु का परिमाण, यद्यपि कितने ही अल्पायु में



ही मर जाते हैं, सौ वर्ष है। इनमें से आधा समय अर्थात् पचास वर्ष निद्रा में व्यतीत होते हैं। बचपन के साढ़े बारह वर्ष नादानी में और वृद्धावस्था के अन्तिम साढ़े बारह वर्ष शारीरिक दुःख में व्यतीत होते हैं। इस प्रकार पचहत्तर वर्ष बीतते हैं। शेष पच्चीस वर्ष में बीमारी वियोग और पेट के धंधे में अर्थात् नौकरी मजदूरी या व्यापारादि में बीत जाते हैं। फिर भी जीवन जल के बुदबुदे की तरह इतना क्षणभंगुर है कि किस समय मौत होगी, कोई कह नहीं सकता! जीवन में सुख कहाँ? सुख का समय आनेवाला नहीं है। सांसारिक सुख क्षणिक और आभासरूप है। सच्चा सुख परमात्मा की शरण जाने में ही है।

आजकल मनुष्य की आयु का परिमाण लगभग पैंसठ वर्ष है। पाँच वर्ष बचपन के मूढावस्था में बीत जाते हैं। फिर पचीस वर्ष तक पढ़ाई होती है। प्रतिदिन दस घंटे पढ़ें तो आठ वर्ष चार महीने पढ़ने में बीत जाते हैं। प्रतिदिन आठ घंटा निद्रा करे तो बीस वर्ष निद्रा में बीत जाते हैं। प्रतिदिन आधा घंटे के हिसाब से शौच-क्रिया में एक वर्ष तीन महीने निकल जाते हैं। दस मिनट दाँतुन करे तो पाँच महीने दाँतुन में ही खर्च होते हैं। आधा घंटा स्नान के हिसाब से एक वर्ष तीन महीने स्नान में ही बीत जाते हैं। प्रतिदिन एक घंटा भोजन का लो तो दो वर्ष छह महीने भोजन में लग जाते हैं। घूमना, बात-चीत, सिनेमा आदि में प्रतिदिन ढाई घंटे के हिसाब से छह वर्ष तीन महीने गुजर जाते

हैं। दुःख दर्द में प्रतिदिन एक घंटे के हिसाब से दो वर्ष आठ महीने बीत जाते हैं। गृह कार्य में प्रतिदिन दो घंटे के हिसाब से तीन वर्ष चार महीने बीत जाते हैं। अब आप ही सोचिए कि जीवन में सुख कहाँ? दस वर्ष की आयु से पैंसठ वर्ष की आयु तक प्रतिदिन आधा घंटा भजन करे तो केवल एक वर्ष पन्द्रह दिन ही भजन होता है। मानव शरीर केवल भोजन करने के लिये नहीं है, भजन करने के लिये है। भगवान् ने गीता में कहा है—'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्' अर्थात्—इस क्षण-भंगुर तथा सुख-रहित लोक में तू मेरा भजन कर।

*इतना ही मुद्रित ग्रंथ उपलब्ध हुआ।*



# अपना कर्त्तव्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

**ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ श्री स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज, मण्डलेश्वर जी का**

## सदुपदेश

**यो भूमिभारोद्धरणाय चक्री चक्रेऽवतारं वसुदेवगेहे।**
**गोपीजनानन्दकरो मुकुन्दः पायात्स वो यादवराजहंसः।।१।।**

भूमिभार उतारने के लिये वसुदेव के घर अवतरित होने वाले, गोपियों को आनंद देने वाले यादवश्रेष्ठ चक्रधारी मुकुन्द आप सब का पालन करें।

इस अपार असार दुःखमय समुद्ररूप संसार में तापत्रय-सन्तप्त जीव की विश्रान्ति के लिये आनन्दमय प्रभु का चरण कमल ही अवलंबन है। उन्हीं चरणों का अवलंबन करके जीव संसार समुद्र से अनायास ही पार हो जाता है। प्रभु के सिवा और कोई पार कराने वाला नहीं ऐसे विचार से अपने चित्त को समझाना चाहिये—

**रे चित्त चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः**
**पारं गमिष्यसि यतो भवसागरस्य।**
**पुत्रः कलत्रमितरे नहि ते सहायाः**
**सर्वं विलोकय सखे मृगतृष्णिकाभम्।।२।।**

हे चित्त! तू संसार के दुःखमय विषय-चिंतन को छोड़ के निरंतर भगवत्चरणों का चिंतन कर जिस चिन्तन के करने से तू संसार समुद्र से पार हो जायगा। स्त्री, पुत्र, भाई, बंधु कोई भी तेरा सहायक नहीं है। हे मित्र! संसार के संपूर्ण पदार्थों को मृगतृष्णा के जल के जैसे मिथ्या (झूठा) समझ कर इनकी भावना छोड़ दे। हे मनीराम! संसार भावना से ही तेरे को चौरासी लक्ष योनि में घूमना पड़ता है। इस चौरासी के चक्र से छूट के यदि परम शांति चाहता है तो–

**चेतः परित्यज्य विकल्पजालं**
**रमस्व भो कृष्ण पदारविन्दे।**
**नातः परं तत्त्वमिहास्ति किंचित्-**
**सद्भिर्विनिर्णीतमिदं मतं हि तत्।।३।।**

हे चित्त! इस विकल्प जाल संसार को छोड़ कर भगवान् कृष्ण के चरणों में रमण कर। इस संसार में परमेश्वर से भिन्न और तत्त्व वस्तु है नहीं ऐसा श्रेष्ठ पुरुषों का निश्चित मत है। अपने कल्याण के लिये–



**अरे भज हरेर्नाम क्षेमधाम क्षणे क्षणे।**
**बहिःसरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते।।४।।**

अरे मन! कल्याण का धाम जो प्रभु का नाम है उसका तुम क्षण-क्षण में चिंतन करो। श्वास बाहर निकलता है तो फिर अंदर आवे या नहीं आवे, क्या भरोसा है!

हे मन! तू अपनी जिह्वा को भी समझा–

**जिह्वे सदैवं भज सुन्दराणि**
**कृष्णस्य नामानि मनोहराणि।**
**समस्त भक्तार्त्ति-विनाशनानि**
**गोविन्द दामोदर माधवेति।।५।।**

हे जिह्वे! निरन्तर सुन्दर मनोहर भगवान् कृष्ण के नामों का उच्चारण कर जो कि भक्तों के समस्त दुःखों को नाश करने वाले हे गोविन्द! हे दामोदर! हे माधव! ऐसे नाम हैं।

परमेश्वर के नाम स्मरण से अपने जन्म को सफल करता हुआ मनुष्य परम गति को प्राप्त होता है, जैसे वाल्मीक। अतः परमात्मा से सदैव प्रार्थना करे–

**कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते**
**अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।**
**प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः**
**कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते।।६।।**

हे कृष्ण! आपके चरण-कमल रूपी पिंजरे में मेरा चित्तरूपी राजहंस आज ही प्रवेश करे। हे प्रभु! मरण समय में कफ बात और पित्त से रुके हुये कंठ से आप का नाम स्मरण कैसे होगा?

मनुष्य का शरीर पाकर जो जीव नाम स्मरण नहीं करता है उसका जन्म निष्फल है—

**केचिद्वदन्ति गुणहीन-जनो जघन्यः**
**केचिद्वदन्ति धनहीन-जनो जघन्यः।**
**व्यासो वदत्यखिल-वेद-पुराण-वेत्ता**
**नारायण-स्मरण-हीन-जनो जघन्यः।।७।।**

कोई कहते हैं गुण-रहित मनुष्य निकृष्ट है, कोई कहते हैं धन-रहित मनुष्य निकृष्ट है; परन्तु संपूर्ण वेद पुराणों के ज्ञाता भगवान् व्यास जी कहते हैं कि जो प्रभु का नाम स्मरण नहीं करता वह संसार में निकृष्ट है; अतः मनुष्य जन्म की सफलता के लिये प्रभु का स्मरण करे।

**मनुजदेहमिमं भुवि दुर्लभं समधिगम्य सुरैरपि वांछितम्।**
**विषयलंपटतामपहाय वै भजत रे मनुजा कमलापतिम्।।८।।**

इस संसार में यह मनुष्य का शरीर बड़ा दुर्लभ है। जिस शरीर की देवता भी इच्छा करते हैं ऐसे मनुष्य शरीर को पाकर विषयासक्ति को छोड़ कर हे मनुष्यों! मायापति परमात्मा का भजन करो, यह ही तुम्हारा कर्त्तव्य है।

मनुष्य अपने जीवन को धर्ममय बनाता हुआ इस लोक में



अपने आत्मा की उन्नति करे, परलोक में धर्म ही सहायक होता है, यहाँ के धनादि पदार्थ सहायक नहीं होते हैं—

**धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे**
**भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने।**
**देहश्चितायां परलोक-मार्गे**
**धर्मानुगो गच्छति जीव एकः।।९।।**

बड़े कष्ट से संपादन किया हुआ धन पृथिवी में ही गड़ा रहेगा, परलोक में जाते समय जीव की सहायता के लिये साथ नहीं जायगा। और हाथी, घोड़े, गौ आदि पशु भी अपनी जगह बंधे ही रहेंगे, वे भी साथ नहीं जायेंगे। और तुम्हारी जीवन भर की सहचारिणी स्त्री घर के दरवाजे तक रहेगी। भाई-बंधु श्मशान तक साथ रहेंगे। यह शरीर चिता में भस्म हो जायगा। परलोक में एक धर्म को ही साथ लेकर जीव जाता है, धर्म ही जीव की रक्षा करता है, अतएव धर्मानुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को कम से कम दोनों काल की संध्या ठीक समय पर करनी चाहिये। समय पर की हुई संध्या बहुत ही लाभदायक होती है। स्मरण रखियेगा कि समय पर बोये हुए बीज ही उत्तम फलदायक हुआ करते हैं। द्विजाति के लिये गायत्री मंत्र का जप वेद और शास्त्रों में सर्वोत्तम बतलाया है। अतएव शुद्ध होकर पवित्र स्थान में समय के अनुसार गायत्री मंत्र का जप अवश्य करना चाहिये।

और कलियुग में विशेषतः निम्नलिखित महामंत्र है—

**हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।**
**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।**

इस षोडश नाम के मंत्र का जाप सभी जाति के स्त्री-पुरुष सब समय कर सकते हैं। यह बहुत ही उपयोगी मंत्र है। 'कलि-संतरणोपनिषद्' में इस मंत्र का बहुत माहात्म्य बतलाया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता का पठन और पाठन सबको करना चाहिये। बिना अर्थ समझे हुए भी गीता का पाठ बहुत लाभकारी है, परन्तु वास्तव में बिना अर्थ को समझकर किये हुए अठारह अध्याय के मूल पाठ की अपेक्षा एक अध्याय का भी अर्थ समझ कर पाठ करना श्रेष्ठ है।

प्रत्येक मनुष्य को अपने घर में अपनी भावना के अनुसार भगवान् की मूर्ति रखकर प्रेम के साथ प्रतिदिन उसकी पूजा करनी चाहिये। इससे भगवान् में श्रद्धा और प्रेम की वृद्धि होती है। शुभ संस्कारों का संचय होता है और समय का सदुपयोग भी होता है।

मनुष्य को प्रतिदिन एकान्त में बैठकर कम-से-कम एक घंटा अपनी रुचि के अनुसार साकार या निराकार भगवान् का ध्यान करने की चेष्टा करनी चाहिये। इससे पाप का समूल नाश होता है और कल्याण मार्ग में बहुत उन्नति होती है।



परमात्मा सारे विश्व में व्याप्त है इसलिये सबकी सेवा ही परमात्मा की सेवा है अतएव मनुष्य को परमसिद्धि की प्राप्ति के लिये संपूर्ण जीवों को ईश्वररूप समझ कर अपने न्याय युक्त कर्त्तव्य कर्म द्वारा सुख पहुँचाने की विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

अपने द्वार पर आये हुए याचक को कुछ देवे। किसी कारणवश देने की इच्छा न होने पर भी उसके साथ विनय सत्कार और प्रेम का बर्ताव तो अवश्य करना चाहिये।

संपूर्ण जीव परमात्मा का अंश होने के कारण परमात्मा के ही स्वरूप हैं, अतएव निन्दा, घृणा, द्वेष और हिंसा को त्याग कर सब के साथ निःस्वार्थ भाव से शुद्ध प्रेम बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिये।

धर्म और ईश्वर में श्रद्धा तथा प्रेम रखने वाले स्वार्थ-त्यागी सदाचारी सत्पुरुषों का सङ्ग करके उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करते हुए सत्संग का विशेष लाभ उठाना चाहिये।

भक्ति-ज्ञान-वैराग्य और धर्म की वृद्धि के लिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रों के पठन-पाठन और श्रवण-मनन के द्वारा उनका तत्त्व समझ कर अपने आत्मा की उन्नति करनी चाहिये।

विशेष महत्त्व का भजन वह है जिसमें ये छह बातें होती हैं:—

(१) जिस मंत्र या नाम का जप हो उसके अर्थ को भी समझते जाना।

(२) भजन से मन में किसी प्रकार की भी लौकिक-पारलौकिक कामना न रखना।

(३) मंत्र जप के या भजन के समय बार-बार शरीर का पुलकित होना, मन में आनन्द का उत्पन्न होना। आनन्द न हो तो आनन्द का संकल्प या भावना करनी चाहिये।

(४) यथासाध्य भजन निरंतर करना।

(५) भजन में श्रद्धा रखना और उसे सत्कार बुद्धि से करना।

(६) जहाँ तक हो, भजन को गुप्त रखना। भगवान् का भजन गुप्त रूप से करना चाहिये नहीं तो कपूर की भाँति मान बड़ाई में उड़ जाता है।

जिस मनुष्य की भगवान् या किसी महात्मा में पूर्ण श्रद्धा हो जाती है वह तो उनके परायण ही हो जाता है। परायणता में जितनी कमी है उतनी ही कमी श्रद्धा में भी समझनी चाहिये।

महापुरुषों द्वारा किये गये उत्तम बर्ताव को भगवान् का बर्ताव ही समझना चाहिये; क्योंकि महापुरुष के अन्दर से भगवान् ही सब कुछ करते कराते हैं।

समय बीत रहा है। बहुत सोच समझकर इसे कीमती काम में लगाना चाहिये। वह कीमती काम भगवान् का भजन और महात्माओं का संग ही है।

मनुष्य को मान-बड़ाई-स्वाद-शौकीनी-सुख-भोग, आलस्य-प्रमोद



सबको छोड़ कर परमेश्वर की शरण होना चाहिये। भगवान् की शरणागति (भक्ति) के बिना कल्याण होना कठिन है।

निष्काम कर्मानुष्ठान और निष्काम परमेश्वर की भक्ति करने से मल विक्षेप दोष की निवृत्ति द्वारा अंतःकरण की शुद्धि और स्थिरता होती है। उसी शुद्धांतःकरण में विवेक वैराग्यादि साधनों की उत्पत्ति होती है, साधन-सम्पन्न अधिकारी मनुष्य ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर श्रवण-मनन निदिध्यासन करके आत्मज्ञान को संपादन कर सकता है जिस आत्मज्ञान के प्रभाव से जीवभाव तथा नामरूपात्मक जगद्भाव का समूल बाध करके सर्वत्र परिपूर्ण अद्वितीय ब्रह्म को ही देखता है। शुद्ध ब्रह्म में जीवभाव व जगद्भाव अज्ञान से कल्पित, भ्रांति-सिद्ध हैं, वास्तव में नहीं हैं। अतएव स्वतः प्रमाणरूप वेद में लिखा है--

**'ब्रह्मैवेदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वम्, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म, दक्षिणतश्चोत्तरेण, अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं, ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म', इत्यादि।**

वेद कहता है कि हे मुमुक्षो! तुम्हारे को यह जगत् दीखता है सो जगत् कोई वस्तु नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है। सर्वत्र ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही है, आगे पीछे बायें दहिने ऊपर नीचे सर्वत्र ब्रह्म ही फैला हुआ है। विवेक दृष्टि से देख, तुम्हारा आत्मा भी ब्रह्मरूप है। जीवपना कर्तापना ये सब तुम्हारे में अज्ञानकृत भ्रांति से

प्रतीत होते हैं, वास्तव में नहीं हैं।

गीता में लिखा है—

**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'**
**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।'**
**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।'**
**'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' इत्यादि।।**

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन यह सम्पूर्ण जगत् मेरा स्वरूप ही है मेरे से भिन्न किंचित्मात्र भी नहीं है। नाम-रूप-भेद भ्रांति से प्रतीत होते हैं, वास्तव में विवर्ताधिष्ठान मुझ परब्रह्म से भिन्न यह जगत् विवर्त कुछ है ही नहीं।

विद्वानों को अनुभव भी ऐसा ही होता है—शास्त्र में लिखा है:—

**बालान् प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत्।**
**अविवर्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा।।**

यह संपूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त (अन्यथा भाव) है ऐसा उपदेश अज्ञानी के प्रति होता है। ज्ञानी लोग तो विवर्त- (प्रपंच-) रहित शुद्ध ब्रह्मानन्द में ही सदा स्थित होते हैं। उनकी दृष्टि में जगत् है नहीं, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का ही भान होता है। लिखा है—

**ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः।**
**अर्थस्वरूपमज्ञानात्पश्यंत्यन्ये कुदृष्टयः।।**



विवेक दृष्टि वाले ज्ञानी इस जगत् को ज्ञानात्मक ब्रह्मस्वरूप ही कहते हैं और भ्रांत मनुष्य अज्ञान से इस जगत् को पदार्थरूप से देखते हैं।

ऐसी ज्ञान दृष्टि से संसार-दुख से छूट कर जीव परमपद विदेह कैवल्य मोक्षानन्द को प्राप्त होता है, पुनःसंसार में लौटकर नहीं आता है। वेद में लिखा है—'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।' गीता में लिखा है—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इति। ज्ञान-प्राप्ति तक मनुष्य का कर्त्तव्य है, आगे कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है। भगवान् लिखते हैं—'तस्य कार्यं न विद्यते इति।'

ज्ञानी को कोई कर्त्तव्य नहीं हैं।

# उपदेश-दोहा

धन यौवन यों जायेंगे जैसे उड़त कपूर।
मन मूरख गोविन्द भज क्यों चाटत जग धूर।।
और अनेकहि सृष्टि में नर तन नीको जान।
परब्रह्म के रूप की इस ही में पहिचान।।
आया है सो जायगा राजा रंक फकीर।
कोई सिंहासन चढ़ चले कोई बांध जंजीर।।
जो प्रभु तरन तारन है जो प्रभु भजवे जोग।
ताको मनतें भूल के मूरख इच्छत भोग।।
कीच पीछलो धोई के आगें नाहिं लगाव।
ऐसा तुझको फेररे मिले न जल्दी दाव।।
नारायण जिनके भवन विधि सम भोग-विलास।
अन्त समय सब छाँड़ के भये काल के ग्रास।।
प्रभुता को सब कोऊ चहै प्रभु को चहै न कोय।
जो तुलसी प्रभु को चहै आजहिं प्रभुता होय।।
तेरे भावे कछु करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठ के अपनो भवन बुहार।।
दो बातों को भूल मत जो चाहत कल्याण।
नारायण एक मौत को दूजे श्री भगवान्।।



अरब खरब लों द्रव्य है उदय अस्तलों राज।
विन भक्ति भगवान् की सभी नरक का साज।।
संत सभा झांकी नहीं कियो न हरिगुण गान।
नारायण फिर कौन विधि तू चाहत कल्याण।।
अपनो साखी आप तू निजमन माहिं विचार।
रे मानुष जो खोट है ताको तुरत निकार।।
मनीराम हरिभजन में तू जिन देर लगाय।
का जाने या देर में श्वास रहे कि जाय।।
निज स्वारथ के मित्र सब यही जगत की चाल।
नारायण बिन स्वार्थी हितू नन्द को लाल।।
बिन सत्संग न हरि कथा तिहिं बिन मोह न भाग।
मोह गये बिन रामपद होय न दृढ़ अनुराग।।
रे मन क्यों भटकत फिरै भज श्री नन्दकुमार।
रे मनवा अब भी समझ भयो न कछु बिगार।
चार दिनन की चांदनी यह संपति संसार।
नारायण हरिभजन कर जासों होय उबार।।
जबलों सुमरे ना हरि जो संतन के मीत।
वह दिन गिनती में नहीं गए वृथा सब बीत।।
रे मनवा सत्संग कर सीख भजन की रीत।
काम क्रोध मद लोभ में गई आरबल बीत।।

प्रीति बहुत संसार में नाना विधि की होय।
उत्तम प्रीति सो जानिये जो सतगुरु सों होय।।
झूठे सुख को सुख कहैं मानत हैं मनमोद।
जगत चवीना काल का कछु मुख में कछु गोद।।
पानी केरा बुदबुदा इस मानुष की जात।
देखत ही छिप जाएँगे ज्यों तारा परभात।।
रात गँवाई सोयकर दिवस गँवायो खाय।
हीरा जन्म अमोल था कौडी बदले जाय।।
दुर्लभ मानुष जन्म है होत न बारंबार।
तरुवर सों पत्ता झड़े बहुरि न लागे डार।।
कृष्ण कृष्ण रटते रहो जब लग घट में प्राण।
कबहुँ दीन दयाल के भनक पड़ेगी कान।।



# सदुपदेश

## सप्त महा रत्न

**"मुहूर्तमपि जीवेच्च नरः शुक्लेन कर्मणा।**
**न कल्पमपि पापेन लोकद्वयविरोधिना।"**

इस श्लोक में मनुष्य जीवन की सफलता और निष्फलता के हेतु बतलाए हैं और देव-दुर्लभ मनुष्य शरीर का कर्तव्या-कर्तव्य भी सूचन किया है—जो मनुष्य अपने अल्प जीवन को भी पुण्य कर्म करता हुआ ही व्यतीत करता है उसी का जीवन सफल है और वह मनुष्य ही कल्याण को प्राप्त होता है। जो मनुष्य पाप कर्म करता हुआ अपने जीवन को समाप्त करता है उस मनुष्य का बहुत जीवन भी निष्फल है और उसके पापाचरण से यह लोक परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। अतएव मनुष्यमात्र को सदैव पुण्यकर्म कर्तव्य है और पाप कर्म अकर्तव्य है अर्थात् पाप कर्म कभी नहीं करना चाहिये। पुण्यकर्मानुष्ठान से ही मनुष्य सुशोभित होता है। जैसे लोक में मनुष्य लौकिक रत्न (हीरा पन्ना मोती आदि) को धारण करने से शोभायमान होता हुआ दर्शनीय होता है इसी प्रकार जो मनुष्य पुण्यकर्म का आचरण तथा पाप कर्म का निषेध रूप अलौकिक अमूल्य आगे लिखे हुये सप्त रत्नों को धारण करता है, वह मनुष्य ही इस लोक परलोक में युधिष्ठिर के जैसा शोभा वाला हुआ द्रष्टव्य (देखने योग्य) होता है।

**प्रथम रत्न**—छह जगह सावधानी रखना—जो पुरुष इन छह जगह संसारी वार्ता तथा प्रमाद करते हैं उनका तीन वर्ष का किया हुआ पुण्य कर्म नष्ट हो जाता है। अतएव इतनी ठोर सचेत रहे। प्रभु मन्दिर में, श्मशान में, मृतक समीप में, ब्रह्ममुहूर्त में, महात्मा के पास में, जप काल में।

**द्वितीय रत्न**—छह जगह पापी मनुष्य का प्रेम होता है अतएव इनमें प्रेम न करे—
माया में, कुटुम्बियों में, मधुरादि रस में, स्त्री में, निद्रा लेने में, संसारी ऐश्वर्य में।

**तृतीय रत्न**—छह बातों को सदैव याद रखें। इनके स्मरण द्वारा अनुष्ठान करके कल्याण को प्राप्त होता है। निर्धनता में प्रसन्न होकर सन्तुष्ट रहे, दौलत के समय पाप का उदय जाने, संसार समुद्र से पार जाने के लिये प्रभु शरण, परलोक का साथी धर्म, श्मशान भूमि से उपदेश, महात्मा से सत्संग।

**चतुर्थ रत्न**—समता; सर्व में समभाव होने से चित्त की राग द्वेषादि मलिनता का नाश और स्वच्छता होती है। राजा और रंक में, मूर्ख और पण्डित में, रूपवान् और कुरूप में, मनुष्य में, पक्षी में, शत्रु मित्र में समता रखे। जो गरीब को धनादि-हीन समझ के निरादर करता है



और धनी का आदर करता है वह प्रभुविमुख है, उसे धिक्कार है।

**पंचम रत्न**—कपट त्याग—बाहर भीतर एक जैसा होना चाहिये। किसी से कपट न करे। कपट करने का दण्ड शास्त्र में यह बतलाया है कि कपटी मनुष्य की परलोक में दो जीभें होंगी, एक आगे एक पीछे, दोनों में कोढ़ चुवेगा, रुधिर का प्रवाह चलेगा। अतः किसी से कपट न करें।

**षष्ठ रत्न**—संसार में छह चीज़ें भली हैं—कल्याणेच्छु मनुष्य इन का ग्रहण करके कल्याण संपादन करें।

१. स्त्रियों में अदब (लज्जा)—बोलने में लज्जा, कपड़ा पहनने में लज्जा, अंग प्रत्यङ्ग दीखे ऐसा कपड़ा न पहने, पति की इज्जत रखने में लज्जा, पति की हैसियत के अनुसार गहना वस्त्रादि के लिये कहे और पति के आपत्ति समय गहना आदि देने के लिये संकोच न करे, विवाहादि समय में अश्लील गान में लज्जा, विधवा स्त्रियाँ शृंगार आदि करने में लज्जा करें। लज्जा को छोड़ कर निर्लज्जता से स्वतन्त्र व्यवहार करने वाली स्त्रियों को शास्त्र में दण्ड बतलाया है कि हज़ारों वर्ष नरक यातना भोग कर निर्जल देश में राक्षस योनि को प्राप्त होकर पुनः चांडाल योनि में जन्म लेती हैं। स्त्री बिना लज्जा के लोन बिना भोजन के जैसी है।

२. जवानी में वैराग्य-भली चीज है—वैराग्य बिना जवान अवस्था में कामादि विकारों से पाप परायण होकर मनुष्य अपने कल्याण को बिगाड़ देता है। अतः वैराग्य की आवश्यकता है। मनुष्य युवा अवस्था में बिना वैराग्य वर्षा-रहित बादल के जैसा है।

३. पंडित में भजन भली चीज़ है—भजन बिन पंडित शोभा नहीं देता। बिना भजन के पंडित फल-रहित वृक्ष जैसा है।

४. धनवानों में उदारता अच्छी चीज है—उदारता के बिना कृपणता से इस लोक और परलोक में सुख से वंचित रहता है। अतः धन को शुभ कार्य में लगाकर पुण्यफल सुख को प्राप्त करे। धनी पुरुष उदारता के बिना जल रहित सरोवर जैसा है।

५. कुटुम्ब और मित्रों में परस्पर प्रीति भली चीज़ है—कुटुम्ब के परस्पर कलह से महान् अनर्थ होता है, जैसे कौरव पांडवों को हुआ था। अतः परस्पर प्रेम होना आवश्यक है। कुटुम्ब परस्पर प्रेम के बिना प्राण-रहित देह के जैसा है।

६. राजाओं में इन्साफ अच्छी वस्तु है—नीतिपूर्वक राज्य करने से इस लोक में राजा उन्नति को प्राप्त होता है, इसलिये राजा को इन्साफ की आवश्यकता है। राजा बिना इन्साफ के शून्य नगर जैसा है।



**सप्तम रत्न**—विचार; विचार के बिना कार्य करने से पश्चात्ताप होता है। अतः विचार-पूर्वक कार्य करना चाहिये। विचार से व्यवहार और परमार्थ दोनों सुधर जाते हैं, इसीलिये भगवान् व्यास जी ने परमार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिये "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र में ब्रह्मज्ञान के जनक विचार की कर्तव्यता बतलाई है, अतः मनुष्य को प्रत्येक कार्य में विचार कर्तव्य है।

जितना सुख चाहते हैं उतनी ही परमेश्वर में प्रीति करें और धर्मानुष्ठान करें।

पूज्यपाद श्रीस्वामी जी महाराज के मुखारविन्द से उत्पन्न हुऐ, कथारूपी सागर से निकाले हुये, उभय लोक सुखप्रद इस सप्त महारत्न को आत्मकल्याणेच्छु मुमुक्षु पुरुष आदरपूर्वक ग्रहण कर अल्पायास से अपने कल्याण को प्राप्त करे।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

# प्रश्नोत्तरी

**अपारसंसारसमुद्रमध्ये**
**सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति।**
**गुरो कृपालो कृपया वदैतद्**
**विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका।।१।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| हे दयामय गुरुदेव! कृपा करके यह बताइये कि अपार संसार रूपी समुद्र में मुझ डूबते हुए का आश्रय क्या है? | विश्वपति परमात्मा के चरण-कमल रूपी जहाज़। |

**बद्धो हि को यो विषयानुरागी**
**का वा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः।**
**को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः**
**तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति।।२।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| वास्तव में बंधा कौन है? | विषयों में आसक्त। |
| विमुक्ति क्या है? | विषयों से वैराग्य। |
| घोर नरक क्या है? | अपना शरीर। |
| स्वर्ग का पद क्या है? | तृष्णा का नाश होना। |



**संसारहृत्कः श्रुतिजात्मबोधः**
**को मोक्षहेतुः कथितः स एव।**
**द्वारं किमेकं नरकस्य नारी**
**का स्वर्गदा प्राणभृतामहिंसा।।३।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| संसार को हरने वाला कौन है? | वेद से उत्पन्न आत्मज्ञान। |
| मोक्ष का कारण क्या कहा गया है? | वही आत्मज्ञान। |
| नरक का प्रधान द्वार क्या है? | नारी। |
| स्वर्ग को देने वाली क्या है? | जीवमात्र की अहिंसा। |

**शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठो**
**जागर्ति को वा सदसद्विवेकी।**
**के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि**
**तान्येव मित्राणि जितानि यानि।।४।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| (वास्तव में) सुख से कौन सोता है? | जो परमात्मा के स्वरूप में स्थित है। |
| और कौन जागता है? | सत् और असत् के तत्त्व का जानने वाला। |
| शत्रु कौन है? | अपनी इन्द्रियाँ। परन्तु जो जीती हुई हों तो वही मित्र हैं। |

**को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः**
**श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः।**
**जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः**
**किं वामृतं स्यात्सुखदा निराशा।।५।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| द्ररिद्र कौन है? | भारी तृष्णावाला। |
| और धनवान् कौन है? | जिसे सब तरह से सन्तोष है। |
| (वास्तव में) जीते जी मरा कौन है? | जो पुरुषार्थहीन है |
| और अमृत क्या हो सकता है? | सुख देने वाली निराशा। (आशा से रहित होना)। |

**पाशो हि को यो ममताभिमानः**
**सम्मोहयत्येव सुरेव का स्त्री।**
**को वा महान्धो मदनातुरो यो**
**मृत्युश्च को वापयशः स्वकीयम्।।६।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| वास्तव में फाँसी क्या है? | जो 'मैं' और 'मेरा' पन है। |
| मदिरा की तरह क्या चीज़ निश्चय ही मोहित कर देती है? | नारी ही। |
| और बड़ा भारी अन्धा कौन है? | जो कामवश व्याकुल है। |
| मृत्यु क्या है? | अपनी अपकीर्ति। |



**को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा**
**शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव।**
**को दीर्घरोगो भव एव साधो**
**किमौषधं तस्य विचार एव।।७।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| गुरु कौन है? | जो केवल हित का ही उपदेश करने वाला है। |
| शिष्य कौन है? | जो गुरु का भक्त है, वही। |
| बड़ा भारी रोग क्या है? | हे साधो! बार-बार जन्म लेना ही। |
| उसकी दवा क्या है? | परमात्मा के स्वरूप का मनन ही। |

**किंभूषणाद्भूषणमस्ति शीलं**
**तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम्।**
**किमत्र हेयं कनकं च कान्ता**
**श्राव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यम्।।८।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| भूषणों में उत्तम भूषण क्या है? | उत्तम चरित्र। |
| सबसे उत्तम तीर्थ क्या है? | अपना मन, जो विशेषरूप से शुद्ध किया हुआ हो। |
| इस संसार में त्यागने योग्य क्या है? | काञ्चन और कामिनी। |
| सदा (मन लगाकर) सुनने योग्य क्या है? | वेद और गुरु का वचन। |

**के हेतवो ब्रह्मगतेस्तु सन्ति**
**सत्सङ्गतिर्दानविचारतोषाः।**
**के सन्ति सन्तोऽखिलवीतरागा**
**अपास्तमोहाः शिवतत्त्वनिष्ठाः।।९।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| परमात्मा की प्राप्ति के क्या-क्या साधन हैं? | सत्सङ्ग, सात्त्विक दान, परमेश्वर के स्वरूप का मनन और सन्तोष। |
| महात्मा कौन हैं? | संपूर्ण संसार से जिनकी आसक्ति नष्ट हो गई है, जिनका अज्ञान-नाश हो चुका है और जो कल्याण-रूप परमात्मतत्त्व में स्थित हैं। |

**को वा ज्वरःप्राणभृतां हि चिन्ता**
**मूर्खोऽस्ति को यस्तु विवेकहीनः।**
**कार्या प्रिया का शिवविष्णुभक्तिः**
**किं जीवनं दोषविवर्जितं यत्।।१०।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| प्राणियों के लिये वास्तव में ज्वर क्या है? | चिन्ता। |
| मूर्ख कौन है? | जो विचारहीन है। |
| करने योग्य प्यारी क्रिया क्या है? | शिव और विष्णु की भक्ति। |
| वास्तव में जीव कौन-सा है? | जो सर्वथा निर्दोष है। |



**विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या**
**बोधो हि को यस्तु विमुक्तिहेतुः।**
**को लाभ आत्मावगमो हि यो वै**
**जितं जगत्केन मनो हि येन।।११।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| वास्तव में विद्या कौन-सी है? | जो परमात्मा को प्राप्त करा देने वाली है। |
| वास्तविक ज्ञान क्या है? | जो (यथार्थ) मुक्ति का कारण है। |
| यथार्थ लाभ क्या है? | जो परमात्मा की प्राप्ति है, वही। |
| जगत् को किसने जीता? | जिसने मन को जीता। |

**शूरान्महाशूरमोऽस्ति को वा**
**मनोजबाणैर्व्यथितो न यस्तु।**
**प्राज्ञोऽथ धीरश्च समस्तु को वा**
**प्राप्तो न मोहं ललनाकटाक्षैः।।१२।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| वीरों में सबसे बड़ा वीर कौन है? | जो काम बाणों से पीडित नहीं होता। |
| बुद्धिमान्, समदर्शी और धीर पुरुष कौन है? | जो स्त्रियों के कटाक्षों से मोह को प्राप्त न हो। |

**विषाद्विषं किं विषयाः समस्ता**
**दुःखी सदा को विषयानुरागी।**
**धन्योऽस्ति को यस्तु परोपकारी**
**कः पूजनीयः शिवतत्त्वनिष्ठः।।१३।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| विष से भी भारी विष कौन है? | सारे विषय-भोग। |
| सदा दुःखी कौन है? | जो संसार के भोगों में आसक्त है। |
| और धन्य कौन है? | जो परोपकारी है। |
| पूजनीय कौन है? | कल्याणरूप परमात्मतत्त्व में स्थित महात्मा। |

**सर्वास्ववस्थास्वपि किन्न कार्यं**
**किं वा विधेयं विदुषा प्रयत्नात्।**
**स्नेहं च पापं पठनं च धर्मं**
**संसारमूलं हि किमस्ति चिन्ता।।१४।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| सभी अवस्थाओं में विद्वानों को बड़े जतन से क्या नहीं करना चाहिये और क्या करना चाहिये? | संसार से स्नेह और पाप नहीं करना तथा सद्ग्रन्थों का पठन और धर्म का पालन करना चाहिये। |
| संसार की जड़ क्या है? | (उसका) चिन्तन ही। |



**विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा**
**नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः।**
**का शृङ्खला प्राणभृतां हि नारी**
**दिव्यं व्रतं किं च समस्तदैन्यम्।।१५।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| समझदारों में सबसे अच्छा समझदार कौन है? | जो स्त्रीरूप पिशाचिनी से नहीं ठगा गया है। |
| प्राणियों के लिये सांकल क्या है? | नारी ही। |
| श्रेष्ठ व्रत क्या है? | पूर्णरूप से विनयभाव। |

**ज्ञातुं न शक्यं च किमस्ति सर्वै-**
**र्योषिन्मनो यच्चरितं तदीयम्।**
**का दुस्त्यजा सर्वजनैर्दुराशा**
**विद्याविहीनः पशुरस्ति को वा।।१६।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| सब किसी के लिये क्या जानना सम्भव नहीं है? | स्त्री का मन और उसका चरित्र। |
| सब लोगों के लिये क्या त्याग-ना अत्यन्त कठिन है? | बुरी वासना (विषय भोग और पाप की इच्छाएँ)। |
| पशु कौन है? | जो सद्विद्या से रहित (मूर्ख) है। |

**वासो न सङ्गः सह कैर्विधेयो**
**मूर्खैश्च नीचैश्च खलैश्च पापैः।**
**मुमुक्षुणा किं त्वरितं विधेयं**
**सत्सङ्गतिर्निर्ममतेशभक्तिः।।१७।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| किन-किन के साथ निवास और संग नहीं करना चाहिये? | मूर्ख, नीच, दुष्ट और पापियों के साथ। |
| मुक्ति चाहने वालों को तुरन्त क्या करना चाहिये? | सत्सङ्ग, ममता का त्याग और परमेश्वर की भक्ति। |

**लघुत्वमूलं च किमर्थितैव**
**गुरुत्वमूलं यदयाचनं च।**
**जातो हि को यस्य पुनर्न जन्म**
**को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः।।१८।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| छोटेपन की जड़ क्या है? | याचना ही। |
| बड़प्पन की जड़ क्या है? | कुछ भी न माँगना। |
| किसका जन्म सराहनीय है? | जिसका फिर जन्म न हो। |
| किसकी मृत्यु सराहनीय है? | जिसकी फिर मृत्यु नहीं होती। |



**मूकोऽस्ति को वा बधिरश्च को वा**
**वक्तुं न युक्तं समये समर्थः।**
**तथ्यं सुपथ्यं न शृणोति वाक्यं**
**विश्वासपात्रं न किमस्ति नारी।।१९।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| गूँगा कौन है? | जो समय पर उचित वचन कहने में समर्थ नहीं है। |
| बहिरा कौन है? | जो यथार्थ और हितकर वचन नहीं सुनता। |
| विश्वास के योग्य कौन नहीं है? | नारी। |

**तत्त्वं किमेकं शिवमद्वितीयं**
**किमुत्तमं सच्चरितं यदस्ति।**
**त्याज्यं सुखं किं स्त्रियमेव सम्यक्**
**देयं परं किं त्वभयं सदैव।।२०।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| एक तत्त्व क्या है? | अद्वितीय कल्याण-तत्त्व (परमात्मा)। |
| सबसे उत्तम क्या है? | जो उत्तम आचरण है। |
| कौन-सा सुख तज देना चाहिये? | सब प्रकार से स्त्री का सुख ही। |
| देने योग्य उत्तम दान क्या है? | सदा अभय ही। |

**शत्रोर्महाशत्रुतमोऽस्ति को वा**
**कामः सकोपानृतलोभतृष्णः।**
**न पूर्यते को विषयैः स एव**
**किं दुःखमूलं ममताभिधानम्।।२१।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| शत्रुओं में सबसे बड़ा भारी शत्रु कौन है? | क्रोध, झूठ, लोभ और तृष्णा सहित काम। |
| विषय भोगों से कौन तृप्त नहीं होता? | वही काम। |
| दुःख की जड़ क्या है? | ममता नामक दोष। |

**किं मण्डनं साक्षरता मुखस्य**
**सत्यं च किं भूतहितं सदैव।**
**किं कर्म कृत्वा नहि शोचनीयं**
**कामारिकंसारिसमर्चनाख्यम्।।२२।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| मुख का भूषण क्या है? | विद्वत्ता। |
| सच्चा कर्म क्या है? | सदा ही प्राणियों का हित करना। |
| कौन-सा कर्म करके पछताना नहीं पड़ता? | भगवान् शिव और श्रीकृष्ण का पूजनरूप कर्म। |



**कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः**
**क्व सर्वथा नास्ति भयं विमुक्तौ।**
**शल्यं परं किं निजमूर्खतैव**
**के के ह्युपास्या गुरुदेववृद्धाः।।२३।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| किसके नाश में मोक्ष है? | मन के ही। |
| किसमें सर्वथा भय नहीं है? | मोक्ष में। |
| सबसे अधिक चुभने वाली कौन चीज़ है? | अपनी मूर्खता ही। |
| उपासना के योग्य कौन-कौन हैं? | देवता, गुरु और वृद्ध। |

**उपस्थिते प्राणहरे कृतान्ते**
**किमाशु कार्यं सुधिया प्रयत्नात्।**
**वाक्कायचित्तैः सुखदं यमघ्नं**
**मुरारिपादाम्बुजचिन्तनं च।।२४।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| प्राण हरने वाले काल के उपस्थित होने पर अच्छी बुद्धि वालों को बड़े जतन से तुरंत क्या करना उचित है? | सुख देने वाले और मृत्यु का नाश करने वाले भगवान् मुरारि के चरण कमलों का तन मन, वचन से चिन्तन करना। |

**के दस्यवः सन्ति कुवासनाख्याः**
**कः शोभते यः सदसि प्रविद्यः।**
**मातेव का या सुखदा सुविद्या**
**किमेधते दानवशात्सुविद्या।।२५।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| डाकू कौन हैं? | बुरी वासनाएँ। |
| सभा में शोभा कौन पाता है? | जो अच्छा विद्वान् है। |
| माता के समान सुख देने वाली कौन है? | उत्तम विद्या। |
| देने से क्या बढ़ती है? | अच्छी विद्या। |

**कुतो हि भीतिः सततं विधेया**
**लोकापवादाद्भवकाननाच्च।**
**को वातिबन्धुः पितरश्च के वा**
**विपत्सहायाः परिपालका ये।।२६।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| निरन्तर किससे डरना चाहिये? | लोक-निन्दा से और संसार रूपी वन से। |
| अत्यन्त प्यारा बन्धु कौन है? | जो विपत्ति में सहायता करे। |
| पिता कौन है? | जो सब प्रकार से पालन-पोषण करे। |



**बुद्ध्वा न बोध्यं परिशिष्यते किं**
**शिवप्रसादं सुखबोधरूपम्।**
**ज्ञाते तु कस्मिन्विदितं जगत्स्यात्**
**सर्वात्मके ब्रह्मणि पूर्णरूपे।।२७।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| क्या समझने के बाद कुछ भी समझना बाकी नहीं रहता? | शुद्ध, विज्ञान, आनन्दघन कल्याणरूप परमात्मा को। |
| किसको जान लेने पर (वास्तव में) जगत् जाना जाता है? | सर्वात्मरूप परिपूर्ण ब्रह्म के स्वरूप को। |

**किं दुर्लभं सद्गुरुरस्ति लोके**
**सत्सङ्गतिर्ब्रह्मविचारणा च।**
**त्यागो हि सर्वस्य शिवात्मबोधः**
**को दुर्जयः सर्वजनैर्मनोजः।।२८।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| संसार में दुर्लभ क्या है? | सद्गुरु, सत्सङ्ग, ब्रह्म विचार सर्वस्व का त्याग और कल्याण-रूप परमात्मा का ज्ञान। |
| सबके लिये क्या जीतना कठिन है? | कामदेव। |

**पशोः पशुः को न करोति धर्मं**
**प्राधीतशास्त्रोऽपि न चात्मबोधः।।**

**किन्तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री**
**के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः ।।२९।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| पशुओं से बढ़कर पशु कौन है? | शास्त्र का खूब अध्ययन करके जो धर्म का पालन नहीं करता और जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ। |
| वह कौन-सा विष है जो अमृत सा जान पड़ता है? | नारी। |
| शत्रु कौन है जो मित्र-सा लगता है? | पुत्र आदि। |

**विद्युच्चलं किं धनयौवनायु-**
**र्दानं परं किञ्च सुपात्रदत्तम् ।**
**कण्ठङ्गतैरप्यसुभिर्न कार्यं**
**किं किं विधेयं मलिनं शिवार्चा ।।३०।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| बिजली की तरह क्षणिक क्या है? | धन, यौवन और आयु। |
| सबसे उत्तम दान कौन-सा है? | जो सुपात्र को दिया जाय। |
| कण्ठगत प्राण होने पर भी क्या नहीं करना चाहिये और क्या करना चाहिये? | पाप नहीं करना चाहिये और कल्याणरूप परमात्मा की पूजा करनी चाहिये। |



**अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं**
**संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम् ।**
**किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारेः**
**क्वास्था न कार्या सततं भवाब्धौ ।।३१।।**

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| रात-दिन विशेष रूप से क्या चिन्तन करना चाहिये? | संसार का मिथ्यापन और कल्याणरूप परमात्मा का तत्त्व। |
| वास्तव में कर्म क्या है? | जो भगवान् श्रीकृष्ण को प्रिय हो। |
| सदैव किस में विश्वास नहीं करना चाहिये? | संसार-समुद्र में। |

**कण्ठङ्गता वा श्रवणङ्गता वा**
**प्रश्नोत्तराख्या मणिरत्नमाला ।**
**तनोतु मोदं विदुषां सुरम्यं**
**रमेशगौरीशकथेव सद्यः ।।३२।।**

यह प्रश्नोत्तर नाम की मणिरत्न माला कण्ठ में या कानों में जाते ही लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु और उमापति भगवान् शंकर की कथा की तरह विद्वानों के सुन्दर आनन्द को बढ़ावे।

# गीता महिमा

गीता हृदय भगवान् का सब ज्ञान का शुभ सार है।
इस शुद्ध गीता ज्ञान से ही, चल रहा संसार है।।
गीता परम विद्या सनातन सर्व शास्त्र प्रधान है।
पर ब्रह्म रूपी मोक्षकारी नित्य गीता गान है।।
यह मोह माया कष्टमय तरना जिसे संसार हो।
वह बैठ गीता नाव में सुख से सहज में पार हो।।
संसार के सब ज्ञान का यह ज्ञानमय भण्डार है।
श्रुति, उपनिषद्, वेदान्त ग्रन्थों का महा शुभसार है।।
गाते जहाँ जन नित्य हरिगीता निरन्तर नेम से।
रहते वहीं सुख कन्द नटवर नन्द नन्दन प्रेम से।।
गाते जहाँ जन गीत गीता प्रेम से धर ध्यान हैं।
तीरथ वहीं भव के सभी शुभ शुद्ध और महान है।।
धरते हुए जो ध्यान, गीता ज्ञान का तन छोड़ते।
लेने उसे माधव मुरारी आप ही उठ दौड़ते।।
सुनते सुनाते नित्य जो लाते इसे व्यवहार में।
पाते परम पद ठोकरें खाते नहीं संसार में।।



* श्रीगणेशाय नमः *

# अथाष्टादशश्लोकी गीता प्रारभ्यते

**अर्जुन उवाच–**

**निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।**
**न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।१।।**

दिखते सभी विपरीत लक्षण खिन्न चित्त भगवान् है।
रण में स्वजन सब मार कर दिखता नहिं कल्याण है।।२।।

**श्रीभगवानुवाच–**

**योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।**
**सिद्ध्यसिध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।२।।**

आसक्ति सब तज सिद्धि और असिद्धि मान समान ही।
योगस्थ होकर कर्म कर है योग समता ज्ञान ही।।२।।

**कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।**
**इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।३।।**

कर्मेन्द्रियों को रोक जो मन से विषय चिन्तन करे।
वह मूढ पाखण्डी कहाता दम्भ निज मन में भरे।।३।।

**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।।**
**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।४।।**

श्रद्धा सहित जो जीत इन्द्रिय ज्ञान में तत्पर रहे।
वह शीघ्र पाकर ज्ञान यह सुख शांति सागर में बहे।।४।।

**यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।**
**विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।५।।**

वश में करे नित बुद्धि इन्द्रिय मोक्ष में जो युक्त है।
भय क्रोध इच्छा त्याग कर वह मुनि सदा ही मुक्त है।।५।।

**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।।**
**युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।६।।**

जब युक्त सोना जागना आहार और विहार हो।
हो दुःखहारी योग जब परिमित सभी व्यवहार हो।।६।।

**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**
**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।७।।**

यह त्रिगुणदैवी घोर माया अगम और अपार है।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है।।७।।

**अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।**
**तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।८।।**

दिन, अग्नि, ज्वाला, शुक्ल पक्ष षट् उत्तरायण मास में।
तन त्याग जाते ब्रह्मवादी, ब्रह्म ही के पास में।।८।।



**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।९।।**

यदि दुष्ट भी भजता अनन्य सुभक्ति को मन में लिये।
है ठीक निश्चयवान उसको साधु कहना चाहिये।।९।।

**यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।**
**असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।१०।।**

जो जानता मुझको अजन्म अनादि लोकेश्वर सही।
ज्ञानी मनुष्यों में सदा सब पाप से छुटता वही।।१०।।

**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।**
**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।११।।**

मत्पर हुआ ममहित करे जो कर्म संगविहीन हो।
निर्वैर जीवों से रहे वह भक्त मुझमें लीन हो।।११।।

**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।**
**ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।**

अभ्यास पथ से ज्ञान उत्तम ज्ञान से गुरुध्यान है।
फिर ध्यान से फल त्याग, करता त्याग शान्ति प्रदान है।।१२।।

**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।**
**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।१३।।**

हे पार्थ! क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ जान महान् तू।
क्षेत्रज्ञ क्षेत्र सुज्ञान मेरा ज्ञान है यह जान तू।।१३।।

**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।।**
**स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।१४।।**
जो शुद्ध निश्चल भक्ति से मेरी लगा लेता लगन।
वह सब गुणों को पार करके ब्रह्म को पाता सुजन।।१४।।

**निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।**
**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्य मूढाः पदमव्ययं तत्।।१५।।**
जीता जिन्हों ने संग दोष न मोह जिन में मान है।
मन में सदा जिनके जगा अध्यात्म ज्ञान प्रधान है।।
जिनमें नहीं है कामना सुख दुःख आदिक द्वन्द्व ही।
अव्यय परम पद को सदा ज्ञानी पुरुष पाते वही।।१५।।

**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।**
**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न पराङ्गतिम्।।१६।।**
जो कर्म मन माने करे, सब शास्त्र विधियाँ छोड़ कर।
वह सिद्धि, सुख अथवा परम गति को न पाता नीच नर।।१६।।

**मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।।**
**भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१७।।**
सौम्यत्व, मौन प्रसाद मन का, शुद्ध भाव सदैव ही।
करना मनो निग्रह, सकल मन की तपस्या है यही।। १७।।

**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।७८।।**



तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो।
मैं मुक्त पापों से करूँगा तू न चिन्ता व्याप्त हो।।१८।।

**गीता सारमिदं पुण्यं यः पठेत्सुसमाहितः।**
**विष्णुलोकमवाप्नोति, भयशोकविनाशनम्।।१९।।**

।। इति श्रीवेदव्यासविरचिताऽष्टादशश्लोकी गीता सम्पूर्णम्।।

# आत्मानुसंधान

।।श्री।।

**महादेव महादेव, महादेवेति यो वदेत्।**
**एकेन मुक्तिमाप्नोति द्वाभ्यां शंभुर्ऋणी भवेत्।।**

**अर्थ**—महादेव! महादेव! महादेव! इस प्रकार तीन बार जो मनुष्य बोले—वह एक बार बोलने से मोक्ष को प्राप्त होता है तथा दो बार से शंकर भगवान् करजदार होते हैं।

**भावार्थ**—महादेव शब्द का अर्थ यह है—महा मायने व्यापक, और देव मायने स्वयं प्रकाश; अर्थात व्यापक चेतन, ब्रह्म चेतन। महादेव ऐसा बोलने वाला अपने चेतन आत्मा को ब्रह्मरूप समझ कर फिर यदि एक बार भी बोलता है तो उसका मोक्ष हो जाता है। मैं चेतन ब्रह्मरूप हूँ—ऐसे निश्चय का नाम ज्ञान है और ज्ञान से मोक्ष हो जाता है यह वेद में लिखा है।

वेदों का सिद्धांत है—कि आत्माब्रह्म रूप है। आत्मा क्या है

आत्मा मायने अपना स्वरूप। अपना स्वरूप क्या है? चेतन ही अपना स्वरूप है। चेतन क्या है? जो शरीर के अंदर प्रकाश करने वाली वस्तु है उसी को चेतन कहते हैं।

शरीर के अंदर इंद्रिय-प्राण-मन-बुद्धि ही क्या प्रकाश करने वाली वस्तु हैं?

नहीं; इंद्रिय-प्राण, मन-बुद्धि जिसके प्रकाश से प्रकाशवाले होते हैं वह वस्तु चेतन है।

मन आदि से क्या वह चेतन अलग है? हाँ; मन आदि का जब जानने वाला है तो मन आदि से भिन्न ही है। मन आदि का जानने वाला फिर कौन है? जो ऐसा पूछने वाला है वही तो जानने वाला है!

पूछने वाला तो मैं हूँ? तब जानने वाला भी तू ही है। मैं कौन हूँ? तुम अपने को जानने वाला कहते हो तो तुम चेतन ही हो।

तब फिर चेतन मैं अपना स्वरूप है तो शरीर इंद्रिय प्राण मन बुद्धि की क्रिया से क्रिया वाला क्या मैं हूँ?

नहीं, शरीरत्रय का साक्षी होने से उनसे भिन्न हो और निष्क्रिय हो, असंग, निर्लेप हो।

शरीरत्रय से भिन्न होने पर भी क्या मैं शरीर जितना ही हूँ?

नहीं; जैसे इस एक शरीर में जानने वाले चेतनरूप से हो वैसे ही ब्रह्मादि से लेकर चींटी पर्यंत सर्व शरीरों में जानने वाले चेतन-रूप से तुम एक ही हो, अतः व्यापक हो।



मैं चेतन-व्यापक हूँ इसमें क्या प्रमाण?

प्रथम "अयमात्मा ब्रह्म" यह वेद प्रमाण है और "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" यह स्मृति प्रमाण है।

और जैसे एक घट में आकाश है वही संसार भर के छोटे-बड़े घटों में भी है, एक ही आकाश जैसे सर्व घटों में है, इसी प्रकार एक ही चेतन आत्मा है—यह युक्ति प्रमाण है।

और ब्रह्मज्ञानी को यही अनुभव होता है। सर्व शरीरों में एक ही आत्मा है यह ज्ञानी का अनुभव भी प्रमाण है।

श्रुति-स्मृति-युक्ति-अनुभव प्रमाण से सर्व शरीरों में एक आत्मा सिद्ध हुआ परंतु व्यापकता सिद्ध नहीं हुई क्योंकि शरीरादि जगत् भिन्न है; व्यापकता तभी सिद्ध होगी जब दूसरा पदार्थ कोई न हो। ठीक है, शरीर से लेकर घट-पटादि समस्त जगत् और माया, यह सर्व कल्पित है। कल्पित होने से वास्तव में सत्य नहीं अतः दूसरा पदार्थ सत्य न होने से अर्थात् वास्तव में दूसरा पदार्थ कोई है ही नहीं, इसलिये केवल एक आत्मा व्यापक है। शरीरादि जगत् और माया ये कल्पित कैसे हैं? दृश्य होने से।

दृश्य किसको कहते हैं? जो ज्ञान का विषय हो, जैसे रस्सी में सर्प दीखता है, वह ज्ञान का विषय होने से दृश्य है। दृश्य होने से कल्पित है, मिथ्या है, सत्य नहीं, सत्य तो रस्सी है। इसी प्रकार शरीरादि जगत् भी दीखता है तो ज्ञान का विषय होने से दृश्य है और दृश्य होने से कल्पित है मिथ्या है सत्य नहीं, सत्य तो द्रष्टा

आत्मा ही है।

शरीरादि जगत् और माया वास्तव में सर्प की न्याई तीन काल में हैं ही नहीं। इस वास्ते आत्मा एक अद्वितीय व्यापक है। जो व्यापक होता है वही आनन्दरूप होता है यह वेद में लिखा है—"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्तीति।"

ऐसे विचार से एक अद्वितीय अखंड आनन्दरूप आत्मा के ज्ञान से मोक्ष होता है, पुनः दुःखमय संसार में आवागमन नहीं होता, आनन्दानुभवरूप से हमेशा स्थिति हो जाती है।

अत्र भगवत्पादोक्तिः

**वेदान्त-सिद्धान्त-निरुक्तिरेषा**
**ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।**
**अखंडरूपस्थितिरेव मोक्षो**
**ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम्।।**

## जगत् रचना विचार

प्रश्न— जगत्-रचना किससे, किसलिये और कैसे हुई?

उत्तर— परमात्मा से जीवों को कर्मफल देने के लिये आकाशादि की उत्पत्ति द्वारा जगत्-रचना हुई।

प्रश्न— परमात्मा का क्या स्वरूप है?

उत्तर— वेद में परमात्मा को सत् चित् अद्वय आनन्दरूप कहा है।



प्रश्न— परब्रह्म परमात्मा के उस अद्वय (व्यापक) रूप से द्वैतरूप जगत् की उत्पत्ति होना असंभव है?

उत्तर— असंभव का संभव माया से हो सकता है।

प्रश्न— माया किसको कहते हैं?

उत्तर— अघटन घटना पटीयसी माया है। अद्वय पर ब्रह्म में, द्वैत जगत् के असंभव का संभव करने में कुशल माया है।

प्रश्न— माया कहाँ और किस रूप से रहती है?

उत्तर— परब्रह्म परमात्मा के एकदेश में माया कल्पितरूप से रहती है।

प्रश्न— अद्वय परमात्मा में मायारूप दूसरी वस्तु मानोगे तो अद्वयता की हानि होगी?

उत्तर—माया अनिर्वचनीय, कल्पित, मिथ्या है। मिथ्या वस्तु से सत्य अद्वयरूपता की हानि नहीं होती, जैसे कल्पित जल से मरुभूमि गीली नहीं होती।

प्रश्न— संसार-रचना माया से है या परमात्मा से?

उत्तर— केवल माया से नहीं और केवल परमात्मा से भी नहीं।

माया जड है, जड में स्वतः क्रिया नहीं होती और परमात्मा स्वतः निष्कल निष्क्रिय है उसमें भी क्रिया नहीं होती। अतः मायाविशिष्ट (सहित) परमात्मा से जगत् की रचना होती है।

प्रश्न— क्या फिर परमात्मा मायासहित ही है?

उत्तर— वेद में परमात्मा के दो रूप बताये हैं—

एक समाय (माया सहित) और दूसरा निर्माय (माया रहित) है। माया-रहित निर्गुण निराकार परब्रह्म कहा जाता है। निर्गुण ब्रह्म ज्ञेय है और मुक्तों को प्राप्य है। माया सहित (विशिष्ट) परमात्मा सगुण परमेश्वर, जगत्-कर्ता, कहा जाता है। यही सगुण परमेश्वर निराकार होता हुआ भी विष्णु-शंकर-गणेश-सूर्य-देवी इन पाँच रूपों से साकार हो जाता है। फिर यही राम कृष्णादि नाना रूपों से अवतार भी धारण करता है। एवं च परब्रह्म परमात्मा के तीन रूप हो गये--एक निर्गुण निराकार, दूसरा सगुण निराकार, तीसरा सगुण साकार।

ज्ञान से मोक्षकाल में निर्गुण निराकार ब्रह्म की प्राप्ति होती है, उसके बाद पुनर्जन्म नहीं होता। ध्यान से मरणकाल में वैकुंठ आदि लोकाधिपति सगुण साकार विष्णु शंकरादि परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

महाप्रलय में माया-विशिष्ट सगुण निराकार परमेश्वर में संपूर्ण जीव कर्मों सहित लीन हो जाते हैं।

प्रश्न— माया वाले सगुण परमेश्वर से जगत्-रचना किस प्रकार होती है?

उत्तर— महाप्रलय में एक ही अद्वितीय माया-विशिष्ट परमेश्वर रहता है। उसमें कर्म-सहित संपूर्ण जीव लीन होकर रहते हैं जैसे शीतकाल में आकाश में बादल लीन होकर रहते हैं।



जब जीवों के कर्म फलोन्मुख होते हैं तब परमेश्वर को उन कर्मों का ज्ञान होता है। उसके बाद जीवों को कर्मफल देने के लिये परमेश्वर को 'मैं एक हूँ, प्रजारूप से बहुत हो जाऊँ' ऐसी बहुभवन की इच्छा होती है।

प्रश्न— जीव के कर्मों से ईश्वर को इच्छा कैसे? अन्य के कर्मों से अन्य को इच्छा नहीं होनी चाहिये!

उत्तर— अन्य के कर्मों से भी अन्य को इच्छा हो जाती है ऐसा लोक में देखा गया है—

जैसे सोये हुए बच्चे के कर्मों से उसको उठाकर दूध पिलाने की इच्छा माता को होती है। उसी इच्छा वाले परमेश्वर से प्रथम शब्द गुण वाले आकाश की उत्पत्ति होती है। फिर शब्द, स्पर्श दो गुणों वाले वायु की उत्पत्ति होती है। पुनःशब्द-स्पर्श-रूप इन तीन गुणों वाले तेज की उत्पत्ति होती है। पीछे शब्द-स्पर्श-रूप-रस इन चार गुणों वाले जल की उत्पत्ति होती है। बाद में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध इन पाँच गुणों वाली पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सूक्ष्म पंच महाभूतों की उत्पत्ति के बाद परमेश्वर-इच्छा से पंच महाभूतों का पंचीकरण (परस्पर मेलन) होता है। मिले हुए स्थूल पंच महाभूतों से ब्रह्मांड की रचना होती है। एक ब्रह्मांड में चौदह लोक बनाये जाते हैं। तत्तत् लोक में निवास करने वाले जीवों के शरीर और भोगने योग्य अन्नादि पदार्थ बनाये जाते हैं। उन्हीं लोकों में जीव चौरासी लक्ष शरीरों द्वारा अपने-अपने

शुभाशुभ कर्मों का फल सुख और दुःख को भोगते हैं। भोगकाल में जीव फिर शुभाशुभ कर्म करता है, फिर उनका फल सुख-दुःख भोगता है। ऐसी धारा सदैव बनी रहती है।

प्रश्न– यह जन्म मरण और सुख दुःख की धारा का हेतु कौन है और इस धारा का उच्छेद किससे होता है?

उत्तर– जन्म मरणादि की धारा का हेतु अपने आत्मा का अज्ञान है और आत्मज्ञान से इस धारा की निवृत्ति होती है। कैसे? सुनिये–सुख दुःख का हेतु शुभ-अशुभ कर्म हैं। कर्म का हेतु राग-द्वेष हैं। राग-द्वेष का हेतु अच्छे पदार्थ का ज्ञान है। उस ज्ञान का हेतु भेद भ्रांति है।

भेद भ्रांति का हेतु अपने आत्मा का अज्ञान है। आत्मा में अज्ञान, रस्सी में सर्प की तरह कल्पित है। कल्पित पदार्थ की निवृत्ति ज्ञान से होती है।

प्रश्न– किसके ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है?

उत्तर– जिसका अज्ञान है।

प्रश्न– किसका अज्ञान है?

उत्तर– जिसको तुम नहीं जानते हो।

प्रश्न– मैं किसको नहीं जानता?

उत्तर– तुम मैं (अपने) को नहीं जानते हो।

शिष्य– मैं तो अपने को जानता हूँ।

गुरु– तुम अपने को जानते हो तो बतलाओ तुम कौन हो?



शिष्य– यही तो मैं हूँ जो आपके सामने बैठा हूँ।

गुरु– बैठा तो यह संघात है, इस संघात में तुम कौन हो–यह बतलाओ।

प्रश्न– क्या इस संघात में बहुत हैं?

उत्तर– संघात नाम है समूह का। बहुत इकट्ठे होवें तब समूह होता है।

प्रश्न– इस संघात में बहुत कौन हैं, बताइये?

उत्तर– एक स्थूल शरीर, दूसरे सूक्ष्म शरीर में सत्रह चीज़ें हैं–पंच प्राण, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि। उन्नीसवाँ अज्ञानरूप कारण शरीर और बीसवाँ चेतन है। इन बीसों के समुदाय का नाम संघात है।

इन बीसों में से तुम कौन हो जो कि तुम अपने को सारे व्यवहार में 'मैं खाता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकार मैं शब्द से बतला रहे हो? वह मैं शब्द का अर्थ क्या है?

अर्थात्–बीसों में से "मैं" शब्द किसमें लगता है?

शिष्य–शरीर में "मैं" यह शब्द लगता है। अर्थात् मैं शब्द का वाच्य स्थूल शरीर है।

गुरु–सो नहीं! क्योंकि मैं शरीर हूँ–ऐसा कभी नहीं कहते, किंतु मेरा शरीर है–ऐसा कहते हो। ऐसा कहने से यह सिद्ध हो गया कि 'मेरा' ऐसा कहने वाला, शरीर से अलग है। जैसे 'मेरा

मकान' ऐसा कहने वाला मकान से अलग है। अतः मैं शब्द का अर्थ स्थूल शरीर नहीं।

प्रश्न—मैं शब्द प्राण में लगता होगा, अर्थात् मैं प्राण होऊँगा।

उत्तर—नहीं! मैं प्राण हूँ—ऐसा कभी नहीं कहते हो किंतु मेरा प्राण (श्वास) है ऐसा कहने से प्राण से भी तुम अलग हो।

शिष्य—हस्त पादादि कर्मेन्द्रिय मैं होऊँगा।

गुरु—नहीं। हस्त मैं हूँ, पाद मैं हूँ—ऐसा तुम कभी नहीं कहते हो किंतु 'मेरे हाथ-पैर हैं'—ऐसा कहते हो अतः पंच कर्मोंद्रियों से भी तुम न्यारे हो।

ऐसे ही श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण रूप पाँच ज्ञानेंद्रियाँ मैं हूँ ऐसा कभी नहीं कहते किंतु मेरे श्रोत्रादि हैं—ऐसा कहने से श्रोत्रादि पंच ज्ञानेंद्रियों से भी तुम अलग हो। ऐसे ही मन मैं हूँ ऐसा कभी नहीं कहते किंतु मेरा मन चंचल है—ऐसा कहते हो, इससे यह सिद्ध हो गया कि मन से भी तुम अलग हो। ऐसे ही बुद्धि मैं हूँ ऐसा कभी नहीं कहते किंतु मेरी बुद्धि अच्छी या मंद है—ऐसा कहते हो अतः मेरी बुद्धि—ऐसा कहने वाले तुम बुद्धि से भी अलग हो। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर तुम नहीं यह सिद्ध हो गया।

ऐसे ही कारण शरीररूप अज्ञान मैं हूँ ऐसा कभी नहीं कहते हो किंतु मेरे को अज्ञान है ऐसा कहते हो अतः अज्ञान से भिन्न हो।



प्रश्न— मैं अज्ञानी हूँ—ऐसा तो मैं कहता हूँ?

उत्तर— ठीक है, परंतु मैं अज्ञानी मायने अज्ञान वाला हूँ, अतः अज्ञान वाले तुम अज्ञान से अलग हो। जैसे धनी धन से अलग होता है ऐसे ही तुम अज्ञानी भी अज्ञान से अलग हो।

गुरु— पूर्वोक्त रीति से मेरे कहकर उन्नीस को तो तुमने अपने से अलग सिद्ध कर दिया। आगे बाकी रहा बीसवाँ चेतन—उसके विषय में तुम क्या कहते हो?

शिष्य— चेतन के विषय में क्या कहना है—यह मैं नहीं जानता, आप ही बतलाईये।

गुरु— तुमसे कोई पूछे कि तुम क्या चेतन हो या जड हो—तब क्या कहोगे?

शिष्य— यही कहूँगा कि मैं चेतन हूँ, जड नहीं।

गुरु— मेरा चेतन—ऐसा भी कभी कहोगे?

शिष्य— नहीं, मेरा चेतन है—ऐसा कभी नहीं कहता।

गुरु— बतलाओ इस संघात में तुम कौन हो?

शिष्य— मैं चेतन हूँ। शरीर-प्राण-इन्द्रियादिरूप नहीं।

गुरु— चेतन ही तुम्हारा सच्चा स्वरूप है। वही आत्मा है, साक्षी है, कूटस्थ है। निर्विकार-अकर्ता-अभोक्ता है, वही आत्मा ज्ञान आंनद ब्रह्मस्वरूप है।

प्रश्न— उस चेतन आत्मा का भान किस रूप में होता है?

उत्तर- ज्ञान स्वरूप से शरीर के अन्दर जो मन के संकल्पों

का ज्ञान होता है और बाहिर घट पटादि पदार्थों का ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मरूप ही है। सर्व शरीरों में ज्ञान रूप से एक चेतन आत्मा व्यापक है अतः ब्रह्मरूप है। इसमें—"प्रज्ञानं ब्रह्म" यह वेद का महावाक्य प्रमाण है।

प्रश्न— एक ज्ञान और दूसरा ज्ञेय याने दृश्य पदार्थ घटादि हैं, अतः भेदभावना बनी ही रही?

उत्तर— घटादि ज्ञेय पदार्थों की सिद्धि ज्ञान से होती है। ज्ञान के बिना संसार का कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता। जिससे जिसकी सिद्धि होती है वह उसी का रूप है जैसे मिट्टी से घट की सिद्धि होती है तो घड़ा मिट्टीरूप ही है, मिट्टी से भिन्न नहीं। ऐसे ही ज्ञान से ही सारे पदार्थ सिद्ध होते हैं सो संपूर्ण पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं, ज्ञान से भिन्न नहीं। एक सत्य ज्ञान ही है, और दूसरा सत्य पदार्थ कोई नहीं है। मैं द्रष्टा हूँ, घटादि दृश्य हैं—यह सब भ्रांति है, मिथ्या कल्पना है।

ऐसे विचार से ज्ञानरूप से व्यापक आत्मा को जानने से मोक्ष प्राप्त होता है, आवागमन के चक्र से छूट कर परमानंद प्राप्त हो जाता है। यही शास्त्र में लिखा है—

**ज्ञानमेकं सदा भाति सर्वावस्थासु निर्मलम्।**
**मंदभाग्या न जानंति स्वरूपं केवलं बृहत्।।**
**यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं**
**नान्यत्ततो भाति न चास्ति किंचित्।**



**स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवलं**
**ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषैव कल्पना।।**

## जगत् आनंदमय

एक अद्वितीय चिदानंद ब्रह्म में जीवभाव और जगत्भाव मायिक होने से कल्पित है, भ्रांतिसिद्ध है।

जैसे भ्रांति से अमृत सागर में क्षीर सागर की कल्पना हो। ठीक वैसे ही अखंड आनन्द सागर में दुःखमय भव सागर की कल्पना है।

आनन्द सागर ही भ्रांति से (माया से) दुःखमय भवसागर के रूप में भासित होता है। आनन्द सागर से भिन्न होकर भवसागर नाम की वस्तु है ही नहीं।

विचार से बाहिर-भीतर सर्वत्र अचिंत्य अनन्त अखंड चिदानन्द सागर का भान होता है।

प्रश्न— कैसे विचार करें?

उत्तर— वेद में सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बतलाई है। अतः जगत् का बीज (कारण) ब्रह्म है। लोक में देखा गया है कि जिस बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होता है उस वृक्ष में उस बीज का रस होता है—जैसे निंब के बीज में कटुता है तो निंब वृक्ष के शाखा पत्ते आदि में भी कटुता होती है। ऐसे ही जगत् के बीजरूप ब्रह्म में आनन्दरूपता है तो जगत्-रूप वृक्ष में भी आनन्दरूपता होनी चाहिए।

प्रश्न— संसार में आनन्द-रूपता है तो हमको भान क्यों नहीं होती?

उत्तर— साधन के अभाव से आनन्द का भान नहीं होता।

प्रश्न— संसार में आनन्द के भान होने का क्या साधन है?

उत्तर— वेदांत विचार के अभ्यास से एकाग्र मन ही साधन है। एकाग्र मन, एक अद्वितीय ब्रह्माकार मन, अर्थात् ब्रह्म के सन्मुख मन, अन्तर्मुख मन। बहिर्मुख मन साधन नहीं। जैसे—खाँड से बने हुए खिलौने में मधुरता होती है परंतु खिलौने में मधुरता का भान जिह्वा के सम्बन्ध से होगा, बिना संबंध के मधुरता का भान कभी नहीं होगा, वैसे ही ब्रह्म-संबद्ध मन से आनन्द का भान होता है।

प्रश्न— जगत् आनंदरूप ही है तो दुःख भान क्यों होता है?

उत्तर— आनन्द में दुःख का होना असंभव भी है परंतु अज्ञानरूप दोष से आनन्दमय जगत् में दुःख का भ्रांति ज्ञान है जैसे मिश्री की मधुरता में कटुता असंभव भी है परंतु पित्त दोष वाले को मिश्री कड़वी लगती है, मिश्री में कटुता का भ्रांति ज्ञान है। पित्त दोष निवृत्त होने से वही मिश्री मीठी भान होती है। इसी प्रकार अज्ञान दोष निवृत्त होने से यही जगत् ज्ञानी को आनन्द-मय भान होता है।

मिश्री की मधुरता में कटुता की केवल कल्पनामात्र है वास्तव में कटुता है ही नहीं, मधुरता ही है—ऐसे ही आनंदमय जगत् में भी दुःख की केवल कल्पना ही है, वास्तव में दुःख है ही नहीं। वास्तव में सच्चा आनन्द ही आनंद है।



प्रश्न— अज्ञान से मोह शोक दुःख की कल्पना किस प्रकार होती है?

उत्तर— दृष्टांत में प्रथम समझिये, खाँड का माधुर्य स्वरूप है। मधुर स्वरूप को न जानकर खाँड से बने हुए हाथी, घोड़े, मनुष्यादि खिलौने में—हाथी बड़ा है, घोड़ा छोटा है—ऐसी कल्पना बालक करता है; यह मोह है। मेरे हाथी को कोई ले जाये नहीं, मेरा हाथी टूट न जाय—ऐसी जो चिंता है, यह शोक है। और हाथी के टूटने के बाद बालक रोता है—दुःख मानता है।

जब बालक खाँड के मधुर स्वरूप को जान लेता है कि खाँड में मिठास ही मिठास है और दूसरा कोई भाव नहीं है तब हाथी-घोड़ा यह भावरूप और छोटा बड़ा यह भावरूप मोह निवृत्त हो जाता है और मेरा हाथी टूट जायगा—ऐसी चिंता-रूप शोक और टूटने के बाद होनेवाला दुःख भी निवृत्त हो जाता है। वह खाँड के सभी खिलौने में मधुरता ही मधुरता देखता है, सदा प्रसन्न रहता है। इसी दृष्टांत के अनुसार अपने आत्मा के व्यापक आनन्द स्वरूप को न जानकर जीव देहादि में अहंता, पुत्रादि में ममतारूप मोह को प्राप्त होता है और देह में कष्टादि होने से, पुत्रादि के वियोग से शोक और दुःख को प्राप्त होता है।

जब जीव वेदांत-विचार से अपने व्यापक आनन्द स्वरूप को जान लेता है तब सर्वत्र आनन्द ही आनन्द देखता है। फिर देह पुत्रादि भाव को नहीं देखता है। उस काल में मोह शोक दुःख से छूट कर आनन्द स्वरूप से स्थितिरूप मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

रामायण में लिखा है–

**आनन्द सिंधु मध्य तव वासा,**
**बिन जाने कत मरसी पियासा।।**

भगवान् वशिष्ठ ने यही कहा–

**किमिदं वारुणी राम शितया कटुकी कृता,**
**चिद्विलासः प्रपंचोयं सखे ते दुःखदः कथम्।।**
रे मन वासों प्रीति कर, जो सबको अधिष्ठान,
आन ठोस सुख है नहीं, यह निश्चय कर जान,
यह निश्चय कर जान, श्रुति गुरु संत बखाने,
माधव व्यास वशिष्ठ कहै, पर तू एक न माने,
कह गिरधर कविराय, शिवोहं शिवोहं भज रे,
जो सबको अधिष्ठान वासों प्रीति कर मन रे,

## आत्मज्ञान के फल का कथन

एक ही परब्रह्म माया उपाधि से परमेश्वर कहा जाता है और वही अविद्या उपाधि से जीव कहा जाता है। वेदांत के महावाक्य के विचार से माया और अविद्या के त्याग से ईश्वर-भाव और जीव-भाव से रहित एक परब्रह्म का ही ज्ञान होता है। जैसे एक मनुष्य, पुत्र की अपेक्षा पिता कहा जाता है और पौत्र (पोते) की अपेक्षा पितामह (दादा) कहा जाता है किन्तु जब पुत्र और पौत्र दोनों नहीं रहें तब वही मनुष्य पितृभाव और दादा-भाव से रहित केवल मनुष्य रूप से ही जानने में आता है पितृत्वादि रूप से



नहीं, ऐसे ही माया व अविद्या से रहित चेतन परब्रह्म रूप से भान होता है, जीव या ईश्वर भाव से भान नहीं होता है।

वेदांत के बारंबार विचार से "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसा दृढ अपरोक्ष ज्ञान होता है।

प्रश्न– इस ब्रह्मात्म-ज्ञान का फल क्या है?

उत्तर– फल कहने वाला यह वेद वाक्य है–

**'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
**क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।'**

अर्थ–आत्मरूप से उस परब्रह्म का ज्ञान होने पर हृदय-ग्रंथि का भेदन, सर्वसंशयों का छेदन और सर्व कर्म का दहन हो जाता है। यद्यपि वेदांतों में अनर्थ-निवृत्ति और परमानंद प्राप्ति ज्ञान का फल बताया है तथापि हृदयग्रंथि-भेदन, सर्व संशय छेदन, सर्व कर्म दहन–ये तीनों अनर्थ-निवृत्ति रूप फल के अन्तर्गत हैं।

प्रश्न– हृदय-ग्रंथि क्या है जिसका भेदन होता है?

उत्तर– हृदय-ग्रंथि मायने जड-चेतन का अन्योन्याध्यास। जड माया है और ब्रह्म चेतन है। इन दोनों का परस्पर अध्यास ही हृदय-ग्रंथि है।

प्रश्न- माया और ब्रह्म का अन्योन्याध्यास (परस्पर संबंध) कैसे हुआ?

उत्तर- जैसे लोहा और अग्नि का अन्योन्याध्यास होता है। लोहा अप्रकाश, काला, शीतल गोल बढ़ने वाला होता है। अग्नि–लाल (प्रकाशमय), उष्ण, गोलपने से रहित और बढ़ने से

रहित होता है। अग्नि में लोहे को तपाने पर दोनों का परस्पर अध्यास होता है। लोहे में अग्नि का अध्यास (संबंध) होने से लोहे के कालिमा और शीतलता—इन दो अंशों को अग्नि के लालिमा और उष्णता ये दो अंश ढाँक लेते हैं अर्थात् लोहे की कालिमा-शीतलता प्रतीत नहीं होते, इसीलिये मनुष्य 'लोहा लाल है, लोहा जलाता है' ऐसा कथन करते हैं। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि लोहे में अग्नि की लालिमा और उष्णता का अध्यास है।

ऐसे ही अग्नि में लोहे का अध्यास (संबंध) होने से अग्नि के गोलपने से रहितता, और बढ़ने से रहितता—इन दो अंशों को लोहे के गोलपना और बढ़नापना—ये दो अंश ढाँक लेते है। अर्थात् लोहा गोल या लम्बा हो तो अग्नि भी गोल या लम्बा प्रतीत होता है। तथा गरम लोहे को लुहार घन से पीटता है तब लोहे के बढ़ने से अग्नि भी बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। इस प्रतीति से यह सिद्ध हुआ कि अग्नि में लोहे के गोलपने का और बढ़ने का अध्यास है। इस प्रकार लोहा और अग्नि का अन्योन्याध्यास हुआ।

ऐसे ही माया और ब्रह्म का अन्योन्याध्यास होता है। माया असत्-जड-द्वैत-दुःखरूप है। ब्रह्म सत्-चित्-अद्वय-आनंदरूप है। ऐसा वेदों में कहा है। माया असत् आदि रूप होने से ब्रह्म में कल्पित है, रस्सी में सर्प की तरह। और ब्रह्म सच्चिदानंदादि रूप होने से माया का अधिष्ठान है—सर्प का अधिष्ठान रस्सी की न्याई। कल्पित माया में ब्रह्म का केवल संसर्गाध्यास है अर्थात्



संबंध मात्र का अध्यास है। और ब्रह्म में माया का स्वरूपाध्यास है अर्थात् स्वरूप से ही माया अध्यस्त है, संबंध मात्र से ही नहीं।

माया में ब्रह्म का केवल संबंध मात्र का अध्यास होने से माया के असत् और जड इन दो अंशों को ब्रह्म के सत् और चित् ये दो अंश ढाँक लेते हैं। अर्थात् मायाकार्य जगत् असत् है परंतु ब्रह्म के सत् का अध्यास होने से 'जगत् सत्य है' ऐसा मनुष्य मानते हैं और मायाकार्य देहेन्द्रिय प्राणादि जड हैं परन्तु ब्रह्म के चेतन का अध्यास होने देहादि चेतन रूप से प्रतीत होते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि माया के असत् जड में ब्रह्म के सत् और चित् का संसर्गाध्यास है।

इसी तरह ब्रह्म में माया का स्वरूपाध्यास होने से ब्रह्म के अद्वय और आनन्द इन दो अंशों को माया के द्वैत और दुःख ये दो अंश ढाँक लेते हैं। अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप अद्वय (व्यापक) है परंतु माया के द्वैतरूप का अध्यास होने से मैं, तू, यह,वह—इस प्रकार द्वैत प्रतीत होता है; 'केवल मैं ही मैं हूँ'—ऐसा अद्वय रूप (व्यापकता) प्रतीत नहीं होता।

और ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है—परंतु माया के दुःखरूप का अध्यास होने से 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार जीव मानता है, 'मैं आनन्दरूप हूँ' ऐसा नहीं मानता। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म के अद्वय और आनन्दरूप में माया के द्वैत और दुःख का स्वरूपाध्यास है।

माया और ब्रह्म के रूप का अन्योन्याध्यास ही हृदय-ग्रंथि है।

प्रश्न— इस हृदय-ग्रंथि का भेदन क्या है?

उत्तर— माया और ब्रह्म के रूप को अलग-अलग समझना ही ग्रंथि-भेदन है।

प्रश्न— अलग-अलग कैसे समझना?

उत्तर— शुद्ध चेतन मैं सच्चिदानंद अद्वय व्यापक ब्रह्मरूप हूँ; असत्-जड-द्वैत-दुःखरूप माया और माया का कार्य देहादि मैं नहीं, ये मेरे नहीं, ये तो अत्यंत असत्, कल्पित, मिथ्या हैं—ऐसा ज्ञान होना यही अलग-अलग समझना है।

यह अर्थ संक्षेपशारीरक में लिखा है—

**'सत्ता स्फुरता परमात्मनो या**
**नाऽऽच्छाद्यते सा ह्युपजीव्यभावात्।**
**आनन्दमाच्छादयतीव माया**
**तन्नाशने तत्त्वमसीति वाक्यम्।।'**

प्रश्न— सर्व संशय क्या हैं जिनका छेदन श्रुति में कहा है?

उत्तर— संशय का आकार यह है—कि आत्मा चेतनरूप है या जडरूप है? चेतनरूप होने पर भी आत्मा नित्य वा अनित्य है? नित्य होने पर भी देहादि से भिन्न है या अभिन्न है? भिन्न होने पर भी आत्मा देहादि के साथ संबंध वाला है या नहीं? संबंध-रहित होने पर भी आत्मा कर्ता भोक्ता है या नहीं? अकर्त्ता अभोक्तादि रूप होने पर भी आत्मा देहादिकृत कर्म से लेपायमान होता है या नहीं? कर्म से अलिप्त होने पर भी आत्मा ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न है? अभिन्न होने पर भी उस आत्मा के मोक्ष का साधन कर्म है वा ज्ञान है? ज्ञानों में भी परोक्ष ज्ञान साधन



है या अपरोक्ष ज्ञान? अपरोक्ष ज्ञान से अविद्या तत्कार्य देहादि जगत् की निवृत्ति होती है या नहीं? इत्यादि संशय हैं।

प्रश्न— इन संशयों का छेदन किससे होता है?

उत्तर— निश्चय ज्ञान से संशय का छेदन होता है।

प्रश्न— वह निश्चय ज्ञान क्या है?

उत्तर— मैं देहादि का साक्षी असंग निर्लेप, निष्क्रिय सच्चिदानन्द नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अविद्यातत्कार्य से रहित अद्वय ब्रह्मरूप हूँ—ऐसा समझना, यही निश्चय ज्ञान है। यह अर्थ भगवान् ने गीता के ४-४२ श्लोक में कहा है—

**'तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।**
**छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।'**

प्रश्न— सर्व कर्म क्या है जिनका ज्ञान से क्षय (दहन) श्रुति ने बताया है?

उत्तर— कर्म तीन प्रकार के हैं—संचित कर्म, आगामि कर्म, प्रारब्ध कर्म।

प्रश्न— इन तीन प्रकार के कर्मों का दहन किससे होता है?

उत्तर— मैं जन्मादि-रहित व्यापक ब्रह्मरूप हूँ—ऐसे ज्ञान से संचित कर्मों का क्षय (नाश) हो जाता है।

प्रश्न— संचित कर्म किसको कहते हैं?

उत्तर— अनंत जन्मों में संचय किये हुए जो अंनत कर्म हैं और जो फल देने को तैयार नहीं हुए हैं वे कर्म संचित हैं।

प्रश्न— संचित कर्मों का आत्मज्ञान से नाश होता है इसमें

क्या प्रमाण है?

उत्तर– 'क्षीयंते चास्य कर्माणि'–यह मुंडक उपनिषद् श्रुति, "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन'–यह ४-३७ गीता स्मृति वाक्य प्रमाण हैं।

प्रश्न– आगामि कर्म क्या है और उनका अभाव कैसे है?

उत्तर– आत्मज्ञान होने के बाद ज्ञानी के शरीरादि से होने वाले जो शुभाशुभ कर्म हैं वे आगामि कर्म हैं। मैं असंग निष्क्रिय अकर्ता हूँ ऐसे असंगता के ज्ञान बल से ज्ञानी के साथ आगामि कर्म का संबंध नहीं होता।

प्रश्न– ज्ञानी को आगामि कर्म का स्पर्श नहीं होता इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर– 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यन्ते'–यह छान्दोग्य उपनिषद् (४.१४) श्रुति, और 'पद्मपत्रमिवांभसा' यह गीता वाक्य प्रमाण है।

प्रश्न– आगामि कर्म का ज्ञानी के साथ संबंध नहीं और ज्ञान से नाश भी नहीं, तब वह आगामि पुण्य पाप कर्म कहाँ जाते हैं? क्या बिना फल दिये ही नष्ट हो जाते हैं?

उत्तर– बिना फल दिये नष्ट नहीं होते किंतु ज्ञानी जन की सेवा आदि करने वाले मनुष्य को ज्ञानी का पुण्य कर्म मिल जाता है और ज्ञानी की निंदा आदि करने वाले को ज्ञानी का पाप कर्म मिलता है। उस शुभाशुभ कर्म का फल सुख और दुःख सेवक और निंदक भोगते हैं।



प्रश्न– प्रारब्ध कर्म क्या है और उनका अभाव (नाश) कैसे होता है?

उत्तर– जो कर्म अपना फल सुख-दुःख देने के लिये शरीर का आरंभ करते हैं, उन कर्मों का नाम प्रारब्ध कर्म है और उस प्रारब्ध कर्म का नाश भोगने से ही होता है, ज्ञान से नहीं।

प्रश्न– प्रारब्ध कर्म का नाश भोग से ही होता है इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर– 'प्रारब्धकर्मणां भोगाद् एव क्षयः' 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'–इत्यादि शास्त्र प्रमाण हैं।

प्रश्न– प्रारब्ध कर्म को भी ज्ञान से नाश मानने और न मानने में क्या हानि और क्या लाभ होता है?

उत्तर– प्रारब्ध कर्म का ज्ञान से नाश मानने में अज्ञानियों के लिये ज्ञानोपदेश की हानी होगी क्योंकि ज्ञान होते ही प्रारब्ध कर्म के क्षय से शरीर का तत्काल नाश होने से यदि अज्ञानियों का उपदेशक ज्ञानी रहे नहीं तब उनको ज्ञान कैसे होगा! अज्ञानी को ज्ञानी ही उपदेश करता है इसमें भगवद्गीता वाक्य प्रमाण है–

**'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।'**

ज्ञान होने के अनंतर शरीर रहने से ज्ञानी को अभ्यास द्वारा जीवन्मुक्ति का आनन्द लाभ होता है और अज्ञों को ज्ञान लाभ होता है। अतः प्रारब्ध कर्म का भोग से ही क्षय होता है, ज्ञान से नहीं।

प्रश्न– संपूर्ण कर्म अज्ञान का कार्य है तब अज्ञान के नाश होने से संपूर्ण कर्म का ही नाश होना चाहिए?

उत्तर– प्रारब्ध कर्म फल देने में प्रवृत्त हो गया अतः उसकी निवृत्ति नहीं। जैसे भोजन से पहिले और पीछे होने वाले अन्न का त्याग हो सकता है भोजन करे हुए अन्न का त्याग नहीं होता, ऐसे ही फल देने में प्रवृत्त नहीं हुए जो ज्ञान से पहले होने वाले संचित कर्म और ज्ञान से पीछे होने वाले आगामी कर्म उनका ही नाश होता है, फलोन्मुख प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं। जैसे छोड़ने से पहले बाण को रोक सकते हैं, धनुष से निकलने के बाद बाण का रोकना असंभव है। ऐसे प्रारब्ध कर्म के त्याग का भी असंभव है।

प्रश्न– जैसे रूई के ढेर में अग्नि लगने से सम्पूर्ण भस्म हो जाती है वैसे ज्ञानाग्नि से सर्व कर्म दहन होना चाहिए?

उत्तर– अग्नि से सर्व रूई जलने पर भी भारी पत्थर के नीचे दबी हुई रूई नहीं जलती! ऐसे प्रारब्ध रूपी शिला के नीचे दबने से कुछ कर्मों का नाश नहीं होता। अतः प्रारब्ध कर्म का भोग से ही नाश होगा।

प्रश्न– एक ज्ञान ग्रंथि-भेदन, सर्वसंशय-छेदन तथा सर्वकर्म-दहन ये तीन कार्य कैसे कर देगा?

उत्तर– एक क्रिया से अनेक कार्य देखे गये हैं। जैसे राम द्वारा की गयी जो ब्रह्मास्त्र का प्रयोग (छोड़ना) रूप क्रिया, उसने रावण के वक्ष का क्षय, लंका का छेदन, रावण के प्राणों का निर्गमन एवं देह पतन रूप अनेक कार्य (फल) साथ ही किये थे,



ऐसे ही ज्ञान से भी ये ग्रंथि-भेदनादि तीन कार्य रूप फल होते हैं।

**'ज्ञानमेकं सदा भाति सर्वावस्थासु निर्मलम्।**
**मंदभाग्या न जानंति स्वरूपं केवलं बृहत्।।'**

### अभ्यास कर्त्तव्य है

दीर्घकाल, निरन्तर, सत्कार-पूर्वक अभ्यास करने से ज्ञान की दृढता होती है–

'ब्रह्मैवाहम्' ऐसी भावना निरंतर बहुत समय तक श्रद्धापूर्वक करनी चाहिए।

**'सदा सदानन्दपदे निमग्नं**
**मनो मनोभावमपाकरोति।**
**गता गतायासमपास्य सद्यः**
**परा परातीतमुपैति तत्त्वम्।।'**

### अर्थ

सदा ब्रह्मानन्द स्वरूप में लगा हुआ मन अपने राग-द्वेषादि को दूर करता है और आवागमन के दुःख से शीघ्र ही छूट कर कार्य-कारण-भाव से रहित परब्रह्म तत्त्व को प्राप्त होता है।

**'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**
**सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**
**कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः**
**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।'**

**अर्थ**

एकः—परमात्मा एक ही है।
देवः—वह स्वयं प्रकाशमान है।
सर्वभूतेषु—सारे प्राणियों में है।
गूढः—माया से ढका हुआ है।
सर्वव्यापी—सर्वत्र व्यापक है।
सर्वभूतान्तरात्मा—सर्व का अन्तरात्मा है। वह परमेश्वर,
कर्माध्यक्षः—सर्व कर्म कराने वाला है।
सर्वभूताधिवासः—संपूर्ण भूतों का अधिष्ठान।
साक्षी—मनोवृत्तियों का जानने वाला है।
चेता—चेतन स्वरूप है।
केवलः—अद्वितीय है।
निर्गुणः—सत्त्व-रज-तम तीनों गुणों से रहित, निष्क्रिय है। ऐसा पर ब्रह्म सर्व का स्वरूप है। संपूर्ण जीव और जगत् ब्रह्म ही है।

**मानस तीर्थ का महत्त्व**

**'सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं, तीर्थम् इन्द्रियनिग्रहः।**
**सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च।।'**

**अर्थ**

सत्य की रक्षा करना तीर्थ है। क्षमा तीर्थ है। इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना भी तीर्थ है। सब जीवों पर दया करना तीर्थ है और सरलता भी तीर्थ है।



।।ॐ।।

## ब्रह्म विचार

एक शुद्ध चिन्मात्र अद्वितीय परब्रह्म ही है। वह परब्रह्म ही अपना आत्मा (स्वरूप) है और संपूर्ण जगत् माया का कार्य है। माया का कार्य जो होता है सो झूठा होता है, कल्पित होता है। सो संपूर्ण जगत् झूठा है। इस झूठे जगत् में मोह ममता नहीं करनी चाहिये। मोह में फँसकर जीव अपने कल्याण को बिगाड़ लेता है। संसार में जो अपने कार्य को बिगाड़ता है वह मूर्ख कहा जाता है। सो मूर्खता से बचने के लिये अपने आत्मस्वरूप ब्रह्म में अहंभाव करना चाहिये। 'मैं शुद्ध ब्रह्मरूप हूँ' ऐसा पक्का निश्चय होने से जीव मुक्त हो जाता है, जन्म मरण दुःख से छूट कर परमानन्द को प्राप्त हो जाता है। सो निरंतर ब्रह्म-भावना करनी चाहिए।

अपने मन के विकारों को निकालना चाहिये। जब तक मन के भाव शुद्ध नहीं होंगे तब तक आत्मज्ञान नहीं होगा इसलिये अपने मन को शुद्ध बनाये। शुद्ध मन में विवेक वैराग्यादि साधन होते हैं। वैराग्यादि दैवी संपत् होने से श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्मज्ञान होता है, आत्मज्ञान से मोक्ष होता है, सर्वदा के लिये संसार दुःख से छूट जाता है।

**अविनाशी पद की प्राप्ति का साधन ओंकार है।**

ॐ परमेश्वर का एक प्रिय नाम है। इस ॐकार के ध्यान से, ज्ञान से और निरंतर जप करने से अविनाशी पद की प्राप्ति हो

जाती है। ॐ को धनुष बनावे, जीव को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य। अभ्यास द्वारा जीव-ब्रह्म दोनों के ऐक्य का, अभेद का चिन्तन करते हुए जब द्वैत भावना मन से निकल जाये और एक अद्वैत में निष्ठा हो जाये, उसी को लक्ष्य-भेदन कहते हैं। इस प्रकार चिन्तन करने से परम का अनुभव होने लगता है।

### यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति के साधन

विवेक वैराग्यादि साधनों से संपन्न जो जिज्ञासु है उसको चाहिए कि निरन्तर तीनों शरीरों से, पंच कोश से श्रवणादि द्वारा अपने आत्मा को पृथक् समझे और ऐसा निश्चय कर अभेद भावना करे। जब अभ्यास करते-करते तमोगुण रजोगुण दब जाते हैं तब शुद्ध सतोगुण का आविर्भाव होता है। तब निर्विकल्प समाधि लगती है। शुद्ध सतोगुण वाले मन में ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप का भान होता है। जैसे मुख अपने पास है परन्तु दीखता नहीं है, शीशे में देखा जाय तब मुख का दर्शन होता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी अन्तरात्मा है परन्तु दीखता नहीं। जब मन सांसारिक पदार्थों का चिन्तन छोड़कर अन्तर्मुख होता है तब आत्मा का यथार्थ ज्ञान होता है। आत्मा का यथार्थ ज्ञान उसे कहते हैं जो मन की वृत्तियों का साक्षी स्वयंप्रकाश हो। साक्षी और स्वयंप्रकाश वही हो सकता है जो तीनों कालों में विद्यमान हो, सत् चित् आनन्द स्वरूप हो।

### ज्ञान प्राप्ति में प्रतिबंधक कौन है?

आठ प्रकार की फाँसी का शास्त्रों ने वर्णन किया है—



**'घृणा शंका भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पंचकम्।**
**कुलं शीलं च वित्तं च ह्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः।।'**

अर्थ) आठ प्रकार की फाँसी से मुमुक्षु को हमेशा बचकर रहना चाहिए।

(१) (घृणा मायने दया) दीन दुःखी में दया करना तो धर्म है परन्तु यदि मन और इन्द्रियों में दया करेगा तो फाँसी का काम करेगी।

(२) शंका मायने संशय। हर प्रकार की प्रवृत्ति निवृत्ति में संशय होना फाँसी है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है 'संशयात्मा विनश्यति' संशय वाले को व्यवहार की सिद्धि नहीं तो परमार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है! इसी का नाम फाँसी है।

(३) भय; दूसरों से भय मान कर अपने कल्याण को नहीं करना, इसी का नाम फाँसी है।

(४) लज्जा मायने सत्संगादि में नहीं जाना, अपने कर्त्तव्य में सावधान न होना ही फाँसी है।

(५) जुगुप्सा मायने निन्दा। यदि दूसरों की निंदा करता रहेगा तो परमेश्वर-चिन्तन का समय नहीं मिलेगा, इसी का नाम फाँसी है। निन्दा द्वारा दूसरों के पापों को धोता रहता है।

(६) कुलं मायने श्रेष्ठ कुल का स्वयं को मान कर घर में ही बैठा रहना, जहाँ धर्म का उपदेश हो वहाँ नहीं जाना—यही फाँसी का काम करता है।

(७) शीलं मायने स्वभाव। सत् स्वभाव को छोड़ कर अशुद्ध खान-पान रहे तो मन शुद्ध नहीं होगा। मन की शुद्धि के

बिना परमेश्वर का ज्ञान होता नहीं। ज्ञान बिना शान्ति नहीं। इसी का नाम फाँसी है।

(८) वित्त मायने धन। यदि धन कमाने में ही लगा रहे तो बंधन का हेतु हो जायेगा।

इन आठ फाँसियों से जिज्ञासु हमेशा सावधान रहे।

## पाँचवी कला का अर्थ

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्था का साक्षी होकर आत्मा तीनों अवस्था में रहता है। यह आत्मा का अन्वय है। जाग्रत् में स्वप्न सुषुप्ति का अभाव है; स्वप्न में जाग्रत् सुषुप्ति का अभाव है; सुषुप्ति में जाग्रत् स्वप्न का अभाव है—इस प्रकार अवस्था का व्यभिचार है। यह अवस्थाओं का व्यतिरेक है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—ये चौदह और इनके देवता और इनके विषय—इन चौदह त्रिपुटी का सा व्यवहार जिस काल में होता है वह जाग्रत् अवस्था है। यह दृश्य होने से मिथ्या है। देखे सुने हुये वस्तु के संस्कार से जिस काल में अस्पष्ट पद और पदार्थों का ज्ञान होता है वह स्वप्न अवस्था है। वह भी मिथ्या है ऐसा लोग भी कहते हैं।

जिस काल में संपूर्ण इंद्रिय मन आदि का लय होता है वह सुषुप्ति अवस्था है। इसी सुषुप्ति में अज्ञान दृश्य होने से वह मिथ्या है। अज्ञान का साक्षी तुरीय है, सो अंतरात्मा है ऐसा निश्चय करे।



## षष्ठ कला

जैसे सीपी में तीन अंश हैं—एक सामान्य अंश (यहपना), दूसरा विशेष अंश (सीपीपना) और तीसरा कल्पित विशेष अंश सर्प है; ऐसे ब्रह्म में तीन हैं—सत्पना सामान्य अंश है, और चित्-आनन्द-असंग-व्यापकपना विशेष अंश है; और तीन अवस्था रूप संपूर्ण प्रपंच कल्पित विशेष अंश है। सामान्य और विशेष इन दो अंशों को सत्य समझना। तीसरे जाग्रदादि कल्पित अंश के त्याग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। भेद भ्रांति आदि पाँच प्रकार का संसार है सो संसार तीन प्रकार के ताप से तपायमान हो रहा है। उस संसार वन को पाँच प्रकार की युक्ति रूपी कुल्हाडी से छेदन कर विचार से संसार को हटावे, घबरावे नहीं।

जो वस्तु जिसमें तीन काल में नहीं है और उसी में बीच में भान होती है वह वस्तु अध्यस्त है अर्थात् उसमें अध्यास है।

जैसे रजत शुक्ति में तीन काल में नहीं फिर भी शुक्ति में भ्रांति काल में रजत-प्रतीति, उस रजत का शुक्ति में अध्यास है। इसी प्रकार आत्मा में तीनों अवस्था का अध्यास है।

भ्रम क्रम से अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास भेद से दो प्रकार का है। अर्थाध्यास छह प्रकार का कहा है। संसार में जो संपूर्ण अध्यास देखने में आते हैं वे सब इन ही छह में अंतर्गत हैं अर्थात् छह के अंदर ही सब आ जाते हैं।

अपने चेतन आत्मा को ब्रह्मस्वरूप जानकर संपूर्ण अध्यास के मूल अज्ञान का नाश करे। परमानन्द ब्रह्म को आत्मा जानना यही मुक्ति का मिलना है ऐसा पंडित-पीतांबर जी कहते हैं।

## षष्ठ कला का अर्थ

देहादि संपूर्ण दृश्य में जो अध्यास है सो छोड़ना चाहिये और जगत् के अधिष्ठान परब्रह्म में चित्त लगाना चाहिये। जो जाग्रदादि तीन अवस्था हैं वे ही संपूर्ण जगत् है अर्थात् तीन अवस्था में जो कुछ दीखता है वही है, उससे भिन्न जगत् नहीं। जैसे सीपी में रजत चमकीले कागज आदि का भान होता है तैसे ब्रह्म में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति भान होते हैं।

जो दीखने वाली (दृश्य) वस्तु है वह रजतादि की न्याई मिथ्या है और जो अधिष्ठान ब्रह्म है वह सीपी की तरह सत्य है।

जैसे रजत, चमकीले कागज आदि का परस्पर व्यभिचार है, अर्थात् रजत दीखे उस काल में कागज नहीं दीखे और कागज दीखे उस काल में रजत नहीं दीखे इस प्रकार व्यभिचार है और परस्पर तीनों का भेद भी है, तैसे जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति का परस्पर व्यभिचार और भेद है। जैसे रजतादि तीनों में अनुगत शुक्ति एक है और पुष्पों से अनुगत धागा एक है इसी प्रकार जाग्रदादि तीनों अवस्था में अनुगत चेतन एक ब्रह्म ही है।

## सप्तम कला

आत्मा के दो प्रकार के विशेषण हैं, एक विधेय विशेषण हैं और दूसरे निषेध्य विशेषण हैं ऐसा वेद में निर्णय करा है। वे सब गुरु से और शास्त्र से अच्छी तरह जाने। जो जानने वाला है वह अपने निज रूप को देखता है—सत्, चित्, आनन्द, ब्रह्म, स्वयं प्रकाश, साक्षी, द्रष्टा, उपद्रष्टा, एक इत्यादि आत्मा के विधेय विशेषण हैं।



अनन्त, अखंड, असंग, अद्वय, अजन्मा, अविकारी, निराकार, अव्यक्त, अप्रमेय, पुण्य कर्म से बढ़े नहीं और पाप कर्म से घटे नहीं इसलिये अव्यय अक्षर अविनाशी कहा जाता है—इत्यादि सब निषेध्य विशेषण हैं।

## अष्टम कला

मैं सच्चिदानंद रूप ही हूँ यह सद्गुरु के मुख से मैंने जाना। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आदि सब कालों में मैं रहता हूँ। जाग्रत् आदि के लय होने पर मैं तीनों काल में हूँ इस वास्ते मैं सत् हूँ। और तीनों काल में मैं सबको जानता हूँ इस वास्ते मैं चेतन हूँ। धन, पुत्र, शरीर आदि से मैं अतिप्रिय हूँ इस वास्ते तीनों काल में तृप्त हूँ।

आत्मा के लिये पुत्रादि प्रिय हैं और आत्मा में प्रेम अपने लिये ही है, अतः उसमें दुःख नहीं है। मैं सबसे अत्यंत प्रिय हूँ, इसलिये दुःख-रहित परमानन्द स्वरूप हूँ।

शरीर और उसकी अवस्था आदि से रहित आत्मा पूर्ण ब्रह्म है ऐसा पीतांबर जी कहते हैं।

## नवम कला

ब्रह्म मन वाणी का अविषय है यह शास्त्र कहता है और महात्मा ऐसा ध्यान करते हैं। उस ब्रह्म को वेद, लक्षणा द्वारा कहता है। जो ब्रह्म के सत् चित् आनन्दादि विधेय विशेषण हैं वे सब असत् जड दुःख से भिन्न ब्रह्म को बतलाते हैं। आपेक्षिक सत्य, वृत्ति ज्ञान, विषयानन्द आदि विरोधि अंश को त्याग के वास्तव सत् चित् आनन्द स्वरूप को लक्षणा से बोधन करे हैं।

जो अनंत-अखंड-असंग-अद्वयादि निषेध्य विशेषण ब्रह्म के हैं वे सब प्रपंच का निषेध करके बाकी रहे परब्रह्म वस्तु को बिन वाणी से कहते हैं।

इस प्रकार वेद शास्त्र सभी परमात्मस्वरूप आत्मदेव को बतलाते हैं। पंडित पीतांबर कहते हैं, फल कर्तृत्व को त्याग कर वृत्ति से ब्रह्मात्मा को अपरोक्ष जाने।

**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।**

ॐकार सर्व संसार में शब्दरूप से पूर्ण है। ईश्वर भी कारण होने से सर्वत्र पूर्ण है। जीव भी ईश्वररूप होने से सर्वत्र पूर्ण है। जगत् भी पूर्ण ब्रह्म का कार्य होने से पूर्ण ही है। जगत् के तम रूप को त्याग के अस्ति भाति प्रिय रूप से पूर्ण ब्रह्म ग्रहण करने में पूर्ण ही बाकी रहता है, जगत् का सर्वथा अभाव हो जाता है। संपूर्ण जगत् का बाध करके एक अद्वितीय ब्रह्म का अनुसंधान होना ज्ञानी का स्वभाव है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" सभी कुछ ब्रह्म है।

## श्रीनृसिंहस्तोत्रम्

### तोटकछन्दः

सकलैर्यतिभिर्नुतपाद-तलम्
शिव-भावविभूषित-हृत्कमलम्।



सकलागम-सार-विवेक-युतम्
प्रणमामि गुरुं नरसिंहगिरिम्।।१।।
भुवि सिद्ध-निरञ्जन-पीठपतिम्
प्रतिपादित-तत्त्व-विचार-करम्।
प्रभु-चित्त-निरन्तर-दत्त-हृदम्
प्रणमामि गुरुं नरसिंहगिरिम्।।२।।
स्मृति-वेद-पुराण-महोपनिषत्
स्थिततत्पद-दर्शयितार-मिह।
महता तमसा-वृत-नेत्रवताम्
प्रणमामि गुरुं नरसिंहगिरिम्।।३।।
जगदेतदहो निबिडे तमसि
सुतराम् अभवन्नयनैरहितम्।
उपदेशकरं किल तत्त्वमसेः
प्रणमामि गुरुं नरसिंहगिरिम्।।४।।
यति-राज-गणार्चित-पाद-तलम्
बुध-वृन्द-सभा-गणनीय-गुणम्।
नवनीत-सुकोमल-हृत्कमलम्
प्रणामामि गुरुं नरसिंहगिरिम्।।५।।
भव-कानन-दाव-शिखाभिरहो
परितप्यति मे हृदयं सततम्।
उपदेश-सुधां परिसिञ्च पुनः
प्रणमामि गुरुं नरसिंहगिरिम्।।६।।

अहमस्मि गुरो! तव पादरजः-
कण-दर्शन-लालस एव सदा।
पुनरप्यवलोकयितास्मि कदा
प्रणमामि गुरुं नरसिंहगिरिम्।।७।।
कृपणत्व-निरस्त-समस्त-गतिः
शरणं चरणाम्बुभुवोर्भवतः।।
अगमं सुगमं शिवदं वद किम्
प्रणमामि सदा नरसिंहगिरिम्।।८।।
नरसिंह गुरोः स्तोत्रं गोविन्दपरिकीर्तितम्।
भवकानभीतो यो पठेन्निर्भयतां व्रजेत्।।९।।

प्रियशिष्यः
गोविन्ददेवः, नापासरः

प्रातर्नमामि नरसिंहगिरिं गिरीशं
भक्तार्तिनाशनपरं परमात्मरूपम्।
मोहान्धकारहरणे हरिदश्वरूपं
संसारसर्पपरिसर्पणदण्डरूपम्।।
मोहादिदुर्मित्रविनाशनाय
मनोज्ञदेहाय महेश्वराय।
लोकोपकारार्पितविग्रहाय
नमो नृसिंहाय यतीश्वराय।।

⌘